तुलसी प्रज्ञा

JOURNAL OF THE JAIN VISHVA BHARATI

खण्ड ७ अगस्त-सितम्बर, १९८१ अंक ५-६

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

अंधकार में आलोक का जन्म

□ मुनिश्री राकेशकुमार

जब-जब आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का दिन आता है, हमारा ध्यान केलवे की अन्धेरी ओरी की ओर चला जाता है। कैसा था वह विचित्र समय! चारों ओर प्रतिकूल परिस्थितियां। मंदिर के स्थान में अन्धकार एवं सामने भीषण कठिनाइयों का अन्धकार। आत्म-विश्वास ही था उस समय आचार्य भिक्षु का महान् सम्बल। बढ़ते ही गये उनके चरण और अन्धेरे में भी प्राप्त किया उन्होंने अनुपम आलोक।

जिसका मानस मुक्त होता है, उसके लिए बन्धन भी मुक्ति का साधन बन जाता है। जिसके विचारों में जागरूकता है, उसके लिए मृत्यु भी जीवन का दर्शन बन जाता है जिसके मन में आलोक है उसके लिए अन्धकार भी प्रकाश का साधन बन जाता है। आचार्य भिक्षु का जीवन उदाहरण है इस सत्य का।

प्रेरणा

आचार्य भिक्षु के अभियान का प्रारंभ हुआ केलवे से। किन्तु उन्हें प्रेरणा मिली राजनगर से। उनके प्रेरक थे वहां के प्रबुद्ध श्रावक। पूर्वाग्रह की बेड़ियां उनकी प्रगति में बाधक नहीं बनी। सरलता और जिज्ञासा की वृत्ति से ओत-प्रोत था उनका जीवन। प्रकाश का अभिनन्दन ही उनकी दृष्टि में सच्चा धर्म था। सत्य का दर्शन ही था उनकी साधना और तपस्या का मूलमन्त्र।

अभिनिष्क्रमण

चैत्र शुक्ला नवमी का दिन। आचार्य भिक्षु ने अपने सहयोगियों के साथ अभिनिष्क्रमण किया। बगड़ी स्थित जैतसिंहजी की छत्रियां उनके चरणों से धन्य हो गयीं।

अचानक चल पड़ा भीषण अन्धड़। उस कटीले मार्ग में बिखर गये चारों ओर तीखे शूल। फिर भी रुकना कब जाना था उस महापुरुष ने? "आगो थारो, ने पाछो म्हारो" यह उचित चरितार्थ हो गई।

चरैवेति

हर पथिक साहस से मंजिल की ओर अग्रसर होता है। हर दीपक प्रारम्भ में अन्धकार से संघर्ष का संकल्प लेकर जलता है। किन्तु कठिनाइयों और अवरोधों को पारकर चलने और जलने वाले विरले ही साधक होते हैं। आचार्य भिक्षु की श्रद्धा मिट्टी के गोले के समान मजबूत थी। उनकी जितनी अग्नि-परीक्षा हुई, उनकी दृढ़ता बढ़ती ही गई। उनकी ज्योति शतगुणित होती गई।

विराट् था उनका ध्येय, सत्य ही था उन्हें उपादेय। न कोई नया पंथ बनाने का सपना और न नए संघ संघटन की कल्पना। "म्हे यूं न जाणता" उस मुमुक्षु आत्मा के इन उद्गारों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तेरापथ

आचार्य भिक्षु के सहयोगी तेरह साधु थे और तेरह श्रावक जोधपुर में उनके विचारों के अनुसार धार्मिक साधना कर रहे थे। तेरह की संख्या के आधार पर एक कवि ने अपनी कविता में उनका तेरापन्थी नामकरण कर दिया।

आचार्य भिक्षु ने उस कवि के मंगल-भावों से भरे सम्बोधन को स्वीकार किया, किन्तु उसकी व्याख्या नई दी। उन्होंने कहा—तेरह पंथ, नहीं, तेरापंथ। भगवान् महावीर! यह तेरापन्थ है, सत्य का पन्थ है। तुम्हारे चरण-चिन्हों पर चलना ही हमारे जीवन का संकल्प है।

(शेष कवर पृष्ठ ३ पर)

तुलसी प्रज्ञा

सम्पादक
डॉ. नथमल टाटिया

सह सम्पादक
डॉ. कमलेश कुमार जैन

प्रबन्ध सम्पादक
गोपीचन्द चोपड़ा

श्रीमान् बी. धरमराज जीवराज दरला,
८३ गुडियातम (तमिलनाडु) के आर्थिक अनुदान से मुद्रित

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

तुलसीप्रज्ञा

खण्ड-७ अगस्त-सितम्बर १९८१ अंक ५-६

अनुक्रमणिका

वार्षिक मूल्य : रु० २५.०० एक अंक का मूल्य : रु० २.५०

इस संयुक्तांक का मूल्य : रु० ५.००

वचन-वीथी

जया य चयई धम्मं
अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए वाले
आइयं नावबुज्झई॥

अनार्य जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को नहीं समझता।

जया ओहाविओ होइ
इंदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ॥

जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देव लोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र।

जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ॥

प्रव्रजित काल में साधु वन्दनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता।

जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ॥

प्रव्रजित काल मे साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा।

जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ॥

प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी।

जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ॥

यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे काँटे को निगलने वाला मत्स्य।

जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ।

वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बंधा हुआ हाथी।

पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसन्ताणसंतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पई॥

पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी।

अज्ज आहं गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ॥
देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं तु
महानिरयसारिसो ।

आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होता यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) में रमण करता ।

संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-पर्याय) महानरक के समान दुःखद होता है ।

अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं ।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥

संयम में रत मुनियों का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जान कर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे ।

दसवेंआलियं,
(पढमा चूलिया : रइवक्का), १-११

———

अप्पाणं सरणं गच्छामि

मैं अपनी आत्मा की शरण स्वीकार करता हूं—यह अद्वैत की भाषा है । इसमें व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का त्राता बनता है । यहां शरण देने वाला परिसर में नहीं, व्यक्ति के अभ्यन्तर में है । वास्तव में गीता, त्रिपिटक और आगमों के शरण आत्मा के भिन्न नहीं हैं, इसलिए शान्ति और समाधि की राह अपनी शरण में जाने से ही खुल सकती है । जो व्यक्ति अपनी शरण को नहीं खोज पाया है, वह दूसरे की शरण में जाकर भी निश्चिन्त नहीं हो सकता ।

—आचार्य तुलसी

———

आचार्य प्रवचन*

जैनधर्म का अहिंसा-दर्शन

जैनधर्म एक अहिंसा-प्रधान धर्म है । अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन इस धर्म में किया गया है, उतना सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । पर जैनधर्म की अहिंसा के बारे में लोगों में भ्रांतियां बहुत हैं । बहुधा यह बात सामने आती है कि जैनधर्म की अहिंसा अव्यावहारिक है । यदि इस अहिंसा का पालन किया जाए तो आदमी न धन-सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है, न अपने परिवार का पालन कर सकता है, न सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वहन कर सकता है । पर वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है । जैनधर्म कभी नहीं कहता कि आप अपने परिवार की पालना न करें, या अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों को न निभाएं । परिग्रह से बंधे हुए व्यक्ति को परिग्रह की सुरक्षा करनी ही पड़ती है । परिवार के स्नेह से बंधे हुए व्यक्ति को अपने परिवार की पालना के लिए अनेक कार्य करने ही होते हैं । सामाजिक एवं राष्ट्रीय सुख-सुविधाओं का उपभोग करने वाले व्यक्ति को अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वाह करना ही होता है । यदि वह अहिंसा की ओट में इन जिम्मेदारियों को नहीं निभाता तो समाज और राष्ट्र की दृष्टि में वह गर्हा का पात्र बनता है । सेनापति यदि युद्ध के मैदान में हिंसा होने का बहाना करके युद्ध नहीं करता है तो वह राष्ट्र की दृष्टि से गद्दार कहलाता है । इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने जो दायित्व ओढ़ लिया है, उसका निर्वहन करना उसका कर्तव्य हो जाता है । जैनधर्म इसमें कहीं भी बाधक नहीं बनता । इस संदर्भ में जैनधर्म तो एक बात कहता है कि हम कोई भी कार्य करें, उसके पीछे हमारी दृष्टि स्पष्ट रहनी चाहिए । हम हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा समझें । गृहस्थ को अनेक ऐसे कार्य करने पड़ते हैं, जिनमें हिंसा अवश्यंभावी है । पर कोई कार्य करना आवश्यक होने मात्र से उससे होने वाली हिंसा को नहीं नकारा जा सकता । हिंसा और अहिंसा का सिद्धांत कार्य की आवश्यकता या अनावश्यकता से अनुबंधित नहीं है । वह तो सर्वत्र समान रूप से लागू होता है ।

*आचार्यश्री तुलसी के ४ नवम्बर १९७७ को जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०) के प्रवचन से ।

जैनधर्म के सिद्धांतानुसार पूर्ण अहिंसा की बात वही कर सकता है, जो सर्वथा परिग्रह से मुक्त हो। परिवार से मुक्त हो और सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों से मुक्त हो। ऐसे व्यक्ति साधु-सन्त ही हो सकते हैं। उनके लिए भगवान् महावीर ने पूर्ण अहिंसा की पालना का विधान किया है। पर सामान्य गृहस्थों के लिए पूर्ण अहिंसा की बात उन्होंने नहीं कही। गृहस्थों के लिए उन्होंने अनावश्यक हिंसा के परित्याग की बात बताई। उन्होंने गृहस्थ समाज के लिए छोटे-छोटे अणुव्रतों को पालने का विधान बताया। महाव्रत और अणुव्रत का विधान साधु-सन्त और गृहस्थों की परिस्थितियों के अन्तर को ध्यान में रखकर ही किया गया है। अणुव्रती बनने का अर्थ काननवासी साधु बनना नहीं है। अणुव्रती बनने का तात्पर्य परिवार, व्यापार आदि छोड़ना नहीं है। अणुव्रती बनने का मतलब यह कभी नहीं है कि व्यक्ति राष्ट्र की सीमाओं की सुरक्षा न करे। एक नागरिक के जितने आवश्यक कर्तव्य होते हैं, उन्हें निभाने में जैनधर्म की अहिंसा कभी भी बाधक नहीं बनती। जैनधर्म के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जबकि जैन श्रावकों ने राज्य की सुरक्षा के लिए युद्ध के मैदान में सेनापति का दायित्व बड़े अच्छे ढंग से निभाया है। दायित्व न निभाने की बात तो दूर, अपितु जैनधर्म तो दायित्व को न निभाना घोर कायरता समझता है और कायरता कभी भी अहिंसा नहीं हो सकती।

अहिंसा के संदर्भ में मैंने कुछ बातें आपसे कही। मैं समझता हूं कि ऐसी और भी अनेक बातें हैं, जिनको समय-समय पर स्पष्ट करना जरूरी है जिससे जैनधर्म के सिद्धांतों के प्रति व्याप्त भ्रांतियां समाप्त हो सकें और जैनधर्म जनधर्म बन सके।

संकलनकर्ता—मुनिश्री धर्मरुचि

सम्मक्त्व

अहो य राओ य जयमाणे, वीरे सया आगयपण्णाणे।
पमत्ते वहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि॥

[दिन-रात यत्न करने वाले ! सदा लब्धप्रज्ञ साधक ! तू देख—जो धर्म से बाहर हैं। इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा पराक्रम कर।]

—आयारो ४/१/११

बीसवीं सदी का एक जैन संस्कृत नाटक

□प्रो० कपूरचंद जैन+

भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में काव्य के दो भेद किए गए हैं—श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य। दृश्य अभिनेय होता है। चूंकि इसमें अनुकार्य रामादि का अनुकर्त्ता नटादि पर आरोप होता है, अतः इसे रूपक कहा जाता है। रूपक के नाटक, प्रकरण आदि दश भेद हैं, किंतु नाटक रूपक का प्रथम और प्रमुख भेद होने के कारण रूपक को ही नाटक कहा जाने लगा है, अर्थात् रूपक का स्थान नाटक ने ले लिया है। प्रस्तुत निबन्ध में रूपक के स्थान पर नाटक और रूपक दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है।

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दोनों काव्यशास्त्रियों ने पर्याप्त गवेषणा की है। जैन परंपरानुसार नाटकों की उत्पत्ति दैविक है। संभवतः तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के अवसर पर स्वर्ग से आने वाले देव और देवियों द्वारा जो उत्सव मनाया जाता था, वही नाटकों का मूल है।[१]

जैन-संस्कृत नाटकों की परंपरा का श्रीगणेश ईसा की आठवीं शताब्दी के मध्य हुआ। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक प्रचुर मात्रा में जैन नाटकों का प्रणयन हुआ। इस दृष्टि से यह काल जैन संस्कृत नाटकों का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। अब तक लगभग ३५ जैन संस्कृत नाटक प्राप्त हैं।[२]

संस्कृत जैन नाटकों की यह परंपरा अब तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इस सदी के संस्कृत जैन नाटककारों में श्री एन० रंगनाथ शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने अभी हाल में भगवान् बाहुबलि सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक के अवसर पर बाहुबलिविजयम् नामक संस्कृत नाटक लिखकर संस्कृत जैन नाटकों की परंपरा में एक कड़ी जोड़ी है।

+अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, श्री के० के० जैन डिग्री कालेज, खतौली—२५१२०१ (उ०प्र०)

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये लेखक का - नाट्योत्पत्ति विषयक जैन परंपरा शीर्षक लेख ("तुलसी प्रज्ञा" खण्ड ५, अंक ९-१०)

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये लेखक का—जैन संस्कृत नाटक और नाटककार शीर्षक लेख। ("परिषद् पत्रिका" (बिहार राष्ट्रभाषा परि० पटना) २१/१ अप्रैल, ८१)

वयोवृद्ध श्री शर्मा का जन्म ७-४-१९१६ ई० में कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत शिवमोग्गा जिले के "नडहक्की" ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम श्री तिम्मप्पा तथा माता का नाम जानकी है। संस्कृत में लगभग छह तथा कन्नड में २५ ग्रन्थों के रचयिता श्री शर्मा कन्नड़, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा की त्रिवेणी हैं। कन्नड़ साहित्य परिषद् की अनुवादक मण्डली के अध्यक्ष रहकर आपने १५ प्राचीन कन्नड़ ग्रन्थों का उद्धार कर उन्हें प्रकाशित कराया है। व्याकरण और अलंकार-शास्त्र में मद्रास विश्वविद्यालय की विद्वान् उपाधि के साथ-साथ आपने श्रेष्ठ संस्कृत अध्यापक के रूप में "भारतराष्ट्रप्रशस्ति" तथा कर्नाटक की "श्रेष्ठविद्वान्प्रशस्ति" प्राप्त की है। सेवा निवृत्ति के पूर्व आप बैंगलोर गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के व्याकरण प्रोफेसर थे। सम्प्रति आप बेंगलोरमें रहते हुए मां भारती की सेवा में संलग्न हैं।[1]

श्री शर्मा ने जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराण तथा कन्नड़ के पम्पकवि प्रणीत आदि-पुराण से प्रभावित होकर बाहुबलिविजयम् नाटक की रचना की है।[2] प्रस्तुत नाटक में जगत्प्रसिद्ध बाहुबलि कथा को आधार बनाया है। भरत के चक्रवर्ती होने पर उसकी आयुधशाला में १४ रत्न उत्पन्न होते हैं। भरत दिग्विजय करके जब लौटते हैं तो चक्ररत्न अचानक ही नगरी के द्वार पर रुक जाता है। मंत्रणा के बाद पता चलता है कि बाहुबलि ने आपकी आज्ञा स्वीकार नहीं की है। तब दक्षिणांक नामक दूत को भेजा जाता है।

दूसरे अंक में दूत से भरत का पत्र प्राप्त कर उसका आशय समझकर बाहुबलि क्रोधयुक्त हो जाते हैं तथा युद्ध के लिए उद्यत हो दूत को भेज देते हैं। तीसरे अंक में मंत्रियों और सेनापतियों से मंत्रणा के बाद धर्मयुद्ध का निश्चय होता है तथा दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध तीन युद्ध होते हैं जिनमें भरत पराजित हो जाते हैं। नाट्यनियमानुसार भरत के हारने का समाचार तथा युद्ध रंगमंच पर न दिखाकर दो पात्रों के माध्यम से प्रकट किया जाता है। विजयी होने पर भी बाहुबलि को वैराग्य हो जाता है और वे प्रतिमायोग धारण करते हैं। दो खेचरियों के माध्यम से भरत को पता चलता हैं कि बाहुबलि को इतना होने पर भी केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। अतः वे तीर्थंकर ऋषभ के पास जाकर और सारा वृत्तान्त जानकर बाहुबलि के पास आते हैं और उन्हें संबोधित करते हैं, तभी बाहुबलि को केवलज्ञान हो जाता है।

चौथे अंक में गंगवंशराज राजमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल में भगवान् बाहुबलि की ५७ फीट ऊंची मूर्ति की स्थापना का वर्णन किया गया है। नाटक में कुल चार अंक हैं।

नाटक के प्रारंभ में अभिनय के पूर्व नेपथ्यगान हेतु श्री गोम्मटेश्वरपंचरत्नम् दिया गया है जो पाठकों और दर्शकों के हृदय में अलौकिक आनन्द का संचार करता है। दो पद्य दृष्टव्य हैं—

१. व्यक्तिगत पत्र के आधार पर।

२. बाहुबलिविजयम्, विज्ञापना, पृष्ठ ५

(१) "परीषहापराजितं गिरीश्वराग्रसंस्थितं
लतावितानवेष्टितं तपः परं समाश्रितम्।
निरंजनं निरालयं सुखाकरं शुभावहं
भजे भवाम्बुधेस्तरिं चिराय गोम्मटेश्वरम्॥

(२) अराललौलितालकावलीविलासितालिकं
करालकर्ममर्मभेदनिर्मलं निरामयम्।
सरोरुहास्यशोभिफुल्लमल्लिकादरस्मितं
भजे भवाम्बुधेस्तरिं चिराय गोम्मटेश्वरम्॥"[1]

बाहुबलिविजयम् में रसों और अलंकारों[2] का मणिकांचन संयोग है। स्वतन्त्रता का महत्त्व सर्वोपरि वर्णित है। दक्षिणांक से पराधीनता की बात जान कर बाहुबलि कहते हैं—मैं उसे राजा मानकर प्रणाम करूं, संभव नहीं। जाओ और अपने स्वामी से कहो—

"मदकलितमतंगैर्दर्पदीप्तैस्तुरंगैः
पटुभटकटुघोषैर्व्याप्तरोदोऽवकाशैः।
निशितशरकराले कंकगृध्रैर्जटाले
भुजयुगबललीलां पश्य मे सांपराये॥"[2]

भरत और बाहुबलि के जलयुद्ध में कवि उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है—

भरतेश्वरविक्षिप्ता जलकणिकाः शुभ्रकान्तिरमणीयाः।
बाहुबलीश्वरवक्षसि मुक्ताहारा भवन्तीव॥[3]

बाहुबलि विजयी हो जाते हैं, पर चिंतन बढ़ जाता है। राज्य को एक कंटक के रूप में विचारते हुए वह सोचते हैं—

बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनीषिणा।
यत्र पुत्रा भ्रातरश्च वैरायन्ते परस्परम्॥
अनिष्टवनितेवेयमालिंगति बलाज्जरा।
अप्रतीकारपारुष्यं मरणं शरणं नृणाम्॥
बुद्बुद्प्रतिमं राज्यं शाश्वतं मन्यतेऽप्रजः॥
निर्बाधं मुक्तिसाम्राज्यं तपसा वरयाम्यहम्॥[4]

(शेष पृष्ठ १३ पर)

१. गोम्मटेश्वरपंचरत्नम्, संख्या २ तथा ३

२. वही, २/१

३. वही, ३/२

४. वही, ३/५-६-७

जयपाहुड—प्रश्नव्याकरण नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

☐ अगरचंद नाहटा*

प्राचीन जैन आगमों का बहुत बड़ा भाग सुरक्षित नहीं रह सका। यह उसके प्राचीन परिमाण के उल्लेखों व वर्तमान उपलब्ध आगमों से सिद्ध है। अंग-सूत्रों में दसवां अंग- प्रश्नव्याकरण का उल्लेख, जिस रूप में नन्दीसूत्र आदि में प्राप्त है, उस रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके बदले में ५ आस्रव एवं ५ संवर के वर्णन वाला दूसरा ही ग्रन्थ उसी नाम से प्राप्त व प्रसिद्ध है। मूल यह ग्रन्थ जिस रूप में था, वह कब लुप्त हो गया और उसी नाम से दूसरा ग्रन्थ भिन्न-विषय वाला (ग्रन्थ) कब चालू हो गया, इसका कोई पता नहीं है। पर नन्दी-सूत्रादि का लेखन वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुआ। उस समय के कुछ बाद ही ऐसा हुआ होगा।

"प्रश्नव्याकरण" मूल ग्रन्थ तो अब प्राप्त नहीं है, पर उसी नाम वाले १-२ अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में मेरा एक लेख "जिनवाणी" में प्रकाशित हो चुका है। पाटण की हस्तलिखित ताड़पत्रीय प्रतियों में "प्रश्नव्याकरण" नामक एक ग्रन्थ की प्रति मिलती है। और नेपाल के राजकीय ग्रन्थागार में भी इस नाम वाले एक ग्रन्थ की प्रति का पता चला था। संवत् १९९९ में जब हम जैसलमेर के ज्ञान भण्डारों का अवलोकन करने गए थे, तब वहाँ आचार्य गच्छ के भण्डार में संवत् १३३६ की लिखी हुई एक ताड़पत्रीय प्रति "जयपाहुड" नामक ग्रन्थ की हमें देखने को मिली थी, जिसका दूसरा नाम "प्रश्नव्याकरण" भी मिलता है। हमारे जैसलमेर से आने के बाद मुनि जिनविजयजी का वहाँ पर पधारना हुआ और उन्होंने इसी प्रति के आधार से उस ग्रन्थ को संपादित कर सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थांक ४३ के रूप में संवत् २०१५ में प्रकाशित करवा दिया। इस ग्रन्थ को प्रकाशित हुए २३ वर्ष हो गये, पर इस ग्रन्थ की जानकारी प्रायः विद्वानों व अन्य लोगों को नहीं है इसलिए इसका संक्षिप्त परिचय इस लेख में करवाया जा रहा है। दूसरा कारण यह भी है कि मुनिजी को इसकी एक मात्र प्रति ही मिली थी, जो त्रुटित व बहुत अशुद्ध थी। इसे प्रकाशित करते हुए प्रस्तावना में मुनिजी ने जो कुछ लिखा है, उससे इस प्रति व ग्रन्थ के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी मिल जाती है। अभी-अभी ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, उज्जैन शाखा में इसकी एक और प्रति जानने

---

*नाहटों की गवाड़, बीकानेर (राज०)।

को मिली है, उसकी भी जानकारी प्रकाश में लाना आवश्यक समझ कर यह लेख लिखा जा रहा है।

मुनिजी ने मूल ग्रन्थ में तो इस ग्रन्थ का नाम "जयपाहुड-निमित्तशास्त्र" छपवाया था, पर कवर पृष्ठ व भीतरी पृष्ठ में इसका नाम "जयपाहुड" छपवाया है, क्योंकि मूल ग्रन्थ की तीसरी गाथा में 'जयपाहुड" नाम मिलता है।

"किंचित् प्रस्तावित" में मुनिजी ने प्राप्त प्रति को भ्रष्ट पाठवाली बतलाते हुए लिखा है कि पुस्तिका की प्रायः प्रत्येक पंक्ति भ्रष्ट पाठवाली प्रतीत हो रही है। ग्रन्थ का विषय निमित्त शास्त्रान्तर्गत प्रश्न-विद्या विषयक है। अतः इस रचना का नाम "प्रश्न-व्याकरण" भी दिया गया है।

हमारे पूर्वज मनीषियों ने अज्ञात तत्त्वों और भावों को जानने के लिए एवं कई प्रकार की गूढ़ विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के चिन्तन, मनन और निदिध्यासन किए हैं। इनके फलस्वरूप जो ज्ञातव्य उन्हें प्राप्त हुए हैं, उनको वे संक्षेप में एवं सूत्ररूप में ग्रथित करके ग्रन्थ या प्रकरण के रूप में निबद्ध करते रहे, जिससे भावी संतति को उसका ज्ञान प्राप्त होता रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ एक ऐसे ही अज्ञात तत्त्व और भावों का ज्ञान प्राप्त करने-कराने का विशेष रहस्यमय शास्त्र है। यह शास्त्र जिस मनीषी या विद्वान् को अच्छी तरह अवगत हो, तो वह इसके आधार से किसी भी प्रश्नकर्ता के लाभ-अलाभ, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि की बातों के विषय में बहुत निश्चित और तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है और प्रश्नकर्ता को बता सकता है।

प्राचीन ब्राह्मी-लिपि जो हमारी भारतीय लिपियों की माता या मूल प्रकृति मानी जाती है, उसकी वर्णमाला या अक्षर मातृका में मुख्य रूप में ४५ अक्षर हैं। इनमें अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः ये १२ स्वर हैं और

क ख ग घ ङ क वर्ग	च छ ज झ ञ च वर्ग
ट ठ ड ढ ण ट वर्ग	त थ द ध न त वर्ग
प फ ब भ म प वर्ग	य र ल व य वर्ग
श स ष ह श वर्ग	

इस प्रकार ७ वर्गों में विभक्त ३३ व्यंजन हैं। १२ स्वरों का एक वर्ग है, जिसकी संज्ञा "अ" है। बाकी के ३३ व्यंजनों की क, च, ट, त, प, य, श, ये क्रमशः ७ संज्ञाएं हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णमाला ८ वर्गों में विभक्त की गई है। परन्तु शास्त्र में इन वर्गगत अक्षरों के अनेक प्रकार के भेद-उपभेद बताये गए हैं। ये अक्षर अनेकों-अनेक गुण और धर्मों के वाचक और सूचक हैं। प्रत्येक अक्षर विशिष्ट प्रकार के स्वभाव और स्वरूप का सूचक है और फिर वह जब किसी दूसरे अक्षर के संयोग में आता है, तब वह उस संयोग के कारण और भी अनेक प्रकार का स्वभाव और स्वरूप बतलाने वाला बन जाता है। अक्षरों के स्वभाव और स्वरूप का निदर्शन कराने के लिए अभिपूरित, आलिंगित, दग्ध

आदि संज्ञाएं बताई गई हैं। इन अक्षरों में कुछ अक्षर जीव संज्ञक हैं और कुछ धातु संज्ञक हैं। इस प्रकार कई तरह से अक्षरों के स्वभाव गुण और धर्मों का प्रतिपादन इन शास्त्रों में किया गया है। यह एक बहुत विलक्षण और अद्भुत रहस्यमय शास्त्र है। इसमें कोई शंका नहीं है।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में इस रहस्यमय अतिशयात्मक शास्त्रीय विषय का उल्लेख बहुत जगह मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के जैन-आचार्य इस विषय का बहुत ही विशिष्ट ज्ञान रखते थे। इस विषय का निरूपण करने वाले छोटे-मोटे अनेक ग्रंथ एवं प्रकरण जैनाचार्यों द्वारा बनाए गए प्रतीत होते हैं, जो प्रायः अब विलुप्त से हो रहे हैं।

इस विषय के ज्ञाताओं और शास्त्रकारों का अभिमत है कि जिन अज्ञात और गूढ़ तत्त्वों का परिज्ञान सर्वज्ञ-केवलज्ञानी अपने आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान द्वारा अनुभूत कर सकता है, वैसा ही परिज्ञान इस शास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता इस शास्त्र द्वारा अनुभूत कर सकता है और इसलिए इस विषय के शास्त्र को "अर्द्ध चूड़ामणि", "केवली चूड़ामणि", "केवली परिज्ञान" आदि नामों से भी व्यक्त किया गया है।

एक तो जिस ग्रन्थ का विषय ही गूढ़ हो और रहस्यपूर्ण हो, और फिर उस ग्रन्थ की प्रति यदि शुद्ध प्राप्त न हो तो उसको समझने में कठिनाई होनी स्वाभाविक है, इसीलिए मुनिजी ने अन्त में लिखा है कि "इस विषय पर प्रकाश डालने वाली बहुत कुछ सामग्री हमारे पास संगृहीत हो गई है। इस ग्रन्थ की पुनरावृत्ति विशिष्ट रूप से करने का हमारा मनोरथ है, जिसके साथ इस प्रकार की कुछ अन्य रचनाएं भी संकलित की जाएंगी, और इस विषय पर प्रकाश डालने वाली अन्य अनेक तथ्यपूर्ण बातें भी आलेखित की जायेंगी।"

मुनिजी का मनोरथ तो उनके साथ ही चला गया और इस विषय की अन्य सामग्री भी उन्होंने क्या संगृहीत की थी और वह कहाँ है, कुछ पता नहीं। पर ग्रन्थ अशुद्ध और त्रुटित रूप में छपा है, इसलिए इसकी अन्य प्रतियों की खोज की जा कर शुद्ध रूप में छपाया जाना बहुत ही आवश्यक है। मुझे नेपाल की राजकीय पुस्तकालय की प्रति का पता चला था, उसकी नकल तो तेरापंथी समाज ने वहाँ से करवाकर मंगवा ली है। पर वह प्रति अपूर्ण है। पाटण भण्डार की प्रति मुनिजी को उस समय उपलब्ध नहीं हो सकी, अन्यथा उससे कुछ पाठ-शुद्धि आदि में सहयोग मिलता।

गत वर्ष ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन के महोत्सव के प्रसंग में उज्जैन जाना हुआ, तो वहां के सरस्वती भवन की उज्जैन शाखा की सूची से "जयपाहुड" की एक प्रति वहां होने का पता चला। पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री से उस प्रति का आदि से अन्त तक का विवरण मंगवा कर देखा तो स्पष्ट हो गया कि ग्रन्थ तो वही है, जो मुनिजी ने प्रकाशित किया है। मूल ग्रन्थ की ३७८ गाथाएं हैं और गाथाओं के साथ संक्षिप्त संस्कृत टीका भी है जो मुनिजी ने छपवाई है। पर मुनिजी वाली प्रति से यह नवीन ज्ञात प्रति कुछ शुद्ध है और पूर्ण है। पं० दयाचन्द्रजी ने लिखा है कि "इस प्रति का क्रमांक ६४४ है। पत्र संख्या ४७ है। ग्रन्थ अच्छी स्थिति में है। अक्षर साफ व सुन्दर हैं। पर लेखक को प्राकृत व संस्कृत का ज्ञान न होने से शब्द व वाक्य की संधियां जोड़ने में त्रुटियां हैं। इस कारण समझने में समय लगता है।"

ऐसी बहुत सी विधाएं, जिनका प्रचार श्वेताम्बरों के चैत्यवासियों में तथा दिगम्बरों के भट्टारकों में परम्परागत रहा है। पर अब चैत्यवासी और भट्टारक प्रायः नहीं रहे और जो थोड़े से भट्टारक हैं, उनको भी इस परम्परा का ज्ञान नहीं है। इसलिए अन्य जैनेतर एवं फुटकर सामग्री जो इस विषय की प्राप्त है, उसको सामने रखते हुए "जयपाहुड" के विषय को स्पष्ट किया जा सकता है या समझा जा सकता है।

मुनिजी ने अपने संपादित संस्करण के परिशिष्ट में १० पृष्ठों का इसी विषय का एक और ग्रन्थ प्रकाशित किया है। उस ग्रन्थ में ६३ गाथाएं और संक्षिप्त संस्कृत टीका भी है। मुनिजी ने इसका नाम "ज्ञानदीपकाख्यं चूडामणिसार-शास्त्रम्" दिया है। और ग्रन्थ के अन्त में लिखा है "इति जिनेन्द्रकथितं प्रश्नचूडामणिसारं समाप्तम्।" अतः यह रचना भी काफी प्राचीन लगती है। मुनिजी ने लिखा है कि यह रचना भी हमें जैसलमेर के एक भण्डार में फुटकर पन्नों में मिली है। प्रश्नचूडामणि, प्रश्नप्रकाश आदि इस विषय के कई प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थों में मिलता है। वास्तव में ग्रन्थ का विषय बड़े महत्त्व का है। पारम्परिक ज्ञान के अभाव में चाहे इसके विषय को पूर्ण स्पष्ट नहीं किया जा सकता हो एवं वर्तमान में उपयोग करना सम्भव न हो, पर इस लुप्त विद्या के पुनरुद्धार का प्रयत्न तो होना ही चाहिए।

"पाहुड" संज्ञा वाली प्राचीन कई रचनाओं, का उल्लेख तो कई ग्रन्थों में मिलता है, पर आज वे रचनाएं प्राप्त नहीं हैं। ऐसी रचनाओं के सम्बन्ध में मुनिकल्याण-विजयजी का लेख "जैन युग" के प्रथम वर्ष में और मोहनलाल झवेरी का "जैन युग" के तीसरे वर्ष (सं० १९८४) में बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित चौरासी पाहुड होने का प्रवाद है पर मिलते केवल ८ ही हैं। बाकी कुछ पाहुडों के नाम श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अपनी दि० ग्रन्थ सूची में दिए थे। उनकी भी खोज अवश्य होनी चाहिए।

—०—

(पृष्ठ ९ का शेषांक)

अन्त में स्तुति करता हुआ कवि कहता है—

सुरेश्वरं निरीश्वरं मदीश्वरं जिनेश्वरम्
गिरां परं मनीषिणां गिरं जनाक्षिगोचरम्॥
जगत्रयीमनोहरं मनस्विनां महत्तरं
भजे भवाम्बुधेस्तीर चिराय गोम्मटेश्वरम्॥[1]

प्रस्तुत नाटक पूर्णतया अभिनेय है। इसका सफल अभिनय महामस्तकाभिषेक के अवसर पर श्रवणबेलगोल में सम्पन्न हुआ था।

—०—

१. वही, ४|५

जैन ललित कला

□साध्वी कानकुमारी

(गतांक से आगे)

वाद्य कला

गीत, नृत्य और वाद्य तीनों का समन्वय एक अद्भुत वातावरण पैदा कर देता है। गीत, नृत्य और वाद्य एक दूसरे के बिना निर्जीव से लगते हैं। जिस उत्सव में गीत और नृत्य का प्रयोग हुआ है, उसमें वाद्य का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया गया है। हर युग में वाद्यों का महत्त्व रहा है। यह दूसरी बात है कि किसी युग में किसी वाद्य को महत्त्व मिला और किसी अन्य युग में किसी अन्य वाद्य को। प्राचीन-युग में जो वाद्य प्रचलित थे, उनका उल्लेख स्थानांग सूत्र में हुआ है। वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं :– १. तत, २. वितत, ३. घन, ४. शुषिर।

१. तत :—तत का विवेचन करते हुए लिखा गया है कि जो वाद्य रेशमी, सूती धागों से अथवा लोहे, पीतल आदि धातुओं के तारों से बंधे होते हैं और जो लकड़ी, हाथी-दांत अथवा मिजराव से बजाए जाते हैं, वे वाद्य तत की कोटि में आते हैं। जैसे - वीणा, सरोद, तंबूरा आदि।

२. वितत :—ये वाद्य भी तारों से बंधे रहते हैं। पर तत से वितत इसलिए भिन्न हैं कि उनके तारों के नीचे चमड़ा लगा रहता है। वितत के अन्तर्गत आने वाले वाद्य हैं— सारंगी, बांस, दिलरुबा आदि।

३. घन :—घन के अन्तर्गत उन वाद्यों को लिया गया है जो किसी दूसरे साधन की चोट से बजते हैं, जैसे- तबला, ढोल आदि।

४. शुषिर :—ये वे वाद्य हैं जो मुंह की फूंक से बजते हैं, जैसे—बांसुरी, नफीरी, शहनाई आदि।

राज-प्रश्नीय सूत्र में नामों की सूची और भी विस्तार से मिलती है—

१. शंख	२. श्रृंग	३. शंखिका	४. पेया
५. पिरिपिरिया	६. पणव	७. भंभा	८. होरंभ
९. भेरी	१०. झल्लरी	११. दुंदुभि	१२. खरमुखी

१३. मुरज	१४. मृदंग	१५. नंदी मृदंग	१६. गोमुखी
१७. मर्दल	१८. वीणा	१९. विपंची	२०. सितंत्री वीणा
२१. वल्लरी	२२. महती	२३. कच्छपी	२४. चित्रवीणा
२५. वृद्धिसार	२६. सुघोषा	२७. नन्दीघोषा	२८. भ्रामरी
२९. षड् भ्रामरी	३०. परवादनी	३१. तुणा	३२. तुंबवीणा
३३. अमोद	३४. झंझा	३५. नकुल	३६. हुडुक्की
३७. विचिक्की	३८. करटा	३९. डिंडिम	४० किणित
४१. कंबड़	४२. दर्दरक	४३. कलशी	४४. मन्डुक
४५. तल	४६. ताल	४७. वंश	४८. वेणु
४९. वदंगा आदि।			

वाद्य लोक-परम्परा में मांगलिक और आमोद-प्रमोद-सूचक रहे हैं। जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों पर वाद्यों का प्रयोग होता रहा है। वाद्य कला भी जैन परम्परा में मान्य कला रही है।

चित्र कला

भाषा भावनाओं को व्यक्त करने का एक हल्का सा माध्यम है। सूक्ष्म भंगिमाओं और अंतःस्पर्शी कामनाओं को अभिव्यक्ति देने में चित्र जितना सशक्त और परिपूर्ण माध्यम है, उतनी भाषा नहीं। चित्र अर्थव्यंजना के प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। किसी भी चित्र को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यक्ति किस परिस्थिति और वातावरण के परिवेश में कौन-सी भाव-भंगिमाओं को लिए हुए है।

चीन के लोगों ने भावाभिव्यक्ति के लिए शब्दलिपि का सहारा न लेकर चित्र लिपि को अपनाया है। इसके पीछे यही रहस्य लगता है कि चित्रों के माध्यम से लोग उनकी भावनाओं को यथावत् और अतिशीघ्र पकड़ सकें। जहां शब्दों का परिवेश भाषा के माध्यम से भावों के बोध में बाधा उत्पन्न कर सकता है, वहां चित्र सहज ही वाञ्छित अर्थ-बोध कराने में सफल हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक संदर्भ में

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति विविध भावनाओं और विभिन्न वृत्तियों का संग्रहालय है। मानवीय वृत्तियां इतनी जटिल और संश्लिष्ट होती हैं कि उन्हें सहजतया भाषा के द्वारा समाज के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु चित्रों के माध्यम से सर्व-ग्राह्य रूप से प्रकाशित किया जा सकता है।

समाज के आलोक में

सामाजिक दृष्टि से चित्रों का विशिष्ट मूल्य है। कोई भी व्यक्ति दूसरे के सम्मुख अपने को फूहड़ रूप में प्रस्तुत करना नहीं चाहता। इसलिए स्वयं के घर को तथा तत्-सम्बन्धी क्षेत्र को कलात्मक साधन-सामग्रियों से सजाना चाहता है।

सजावट की साज-सज्जा में चित्रों का अद्वितीय स्थान है।

दर्शन के दर्पण में

जो दार्शनिक तत्त्व भाषा के माध्यम से आसानी से नहीं समझाया जा सकता, उसे सुगमता से समझाने का सूक्ष्म साधन चित्र है।

चित्र विद्वान् तथा जन-साधारण दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी है। जन-साधारण जहां चित्रों के माध्यम से गूढ़ तत्त्वों को हृदयंगम करते हैं, वहां विद्वान् लोग भी बहुत से तथ्यों को बिना चित्रों के यथावत् नहीं पकड़ पाते। जैन चित्रकला का आविर्भाव इसी उद्देश्य से हुआ है। आचार्य विश्व-तत्त्वों को स्थापना के द्वारा अपने शिष्य-मण्डल को समझाते थे।

कुमारपाल राजा की चित्रकला का जिक्र करते हुए लिखा गया है कि एक भित्ति पर आलेखित चित्र सामने वाली भित्ति पर यथावत् प्रतिबिंबित होते थे।

योगीमारा और सितन्नवासल के भित्तिचित्र अति प्राचीन और रमणीय हैं।

चउप्पनमहापुरुषचरिय

चउप्पनमहापुरुषचरिय में वर्णन आया है कि कुमार पार्श्वनाथ वसन्त ऋतु की शोभा देखने के लिए उद्यान में गए। उन्होंने वहां विविध प्रकार के फूल, फल, पौधों और लता-कुंजों के साथ-साथ एक भित्ति-चित्र भी देखा।

उस चित्र में कुमार नेमिनाथ का घटना-प्रसंग भी उल्लिखित था।

उस चित्र में कुमार नेमि अपने ऐश्वर्य-सम्पन्न राज्य और नवयुवती कुमारी राजीमती को ठुकराकर संयमश्री को वरने के लिए जा रहे थे। इस भित्ति-चित्र ने कुमार पार्श्व को सदा-सदा के लिए संसार से विरक्त बना दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय भित्ति चित्रों का बाहुल्य था।

उत्तराध्ययन में साधु के लिए चित्र-गृह में रहने का निषेध किया गया है—

मनोहरं चित्तहरं, मल्लधूवेण वासिअं।
सकवाडं पंडुरुल्लोअं, मणसा वि न पत्थए।।

अर्थात् मनोहर चित्रों से निर्मित मकान में साधु रहने की इच्छा न करे।

दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिए भित्ति-चित्रों के देखने का निषेध किया गया है—

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारियं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ।।८/५४।।

इससे स्पष्ट है कि चित्र व्यक्ति के मानस को बहुत सीधे प्रभावित करता है। अतः मात्र वासना-प्रधान चित्रों के निरीक्षण का ही निषेध किया गया है न कि चित्र-मात्र के निरीक्षण का।

चित्र-कला ने अपने चरण आगे बढ़ाए। जो चित्र भित्तियों पर आलेखित होते थे, समयान्तर में ताड़-पत्रों, भोज-पत्रों और साधारण कागजों पर भी अंकित होने लगे।

विक्रम की ११ वीं शताब्दी में नेमिचन्द्रगणि कृत तरंगलोला में तरंगवती के द्वारा निर्मित चित्र-पत्रों का उल्लेख है। कुमारी तरंगवती ने अपने पूर्वजन्म के घटना प्रसंगों पर अनेक चित्र तैयार किए थे।

उन चित्रों में एक चित्र बहुत ही मार्मिक और स्थिति को स्पष्ट करने वाला था। उसमें तीर लगने से चकवे की मृत्यु और उसके साथ चकवी के सती होने का उल्लेख मिलता है।

जैन-कलाकारों के द्वारा विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों प्रतियां ऐसी लिखी गई, जो चित्रकृतियों के कारण बहुत ही सुन्दर बन पड़ी थीं।

चातुर्मासिक प्रार्थना-पत्रों, कल्याण मन्दिर, भक्तामर आदि स्तुति-प्रधान स्तोत्रों के रमणीय चित्रों ने मध्यकालीन चित्रकला की कमनीयता में चार चांद लगा दिए।

इतनी लम्बी अवधि में अनेक परिवर्तनों और परिवर्धनों के बीच गुजरती हुई यह कला जनता के सम्मुख अपना नवीनतम रूप प्रस्तुत करती रही है। आज भी अनेक कुशल कलाकार इस कला-साधना में विशेष रूप से संलग्न हैं।

तेरापंथ धर्म-संघ में आज अनेक साधु-साध्वियां इस कला में निष्णात हैं, जिनके कुशल हाथों से अनेक ऐसे चित्र समाज के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं, जो समाज के लिए नई उपलब्धि हो सकते हैं, जैसे—प्रच्छन्न-चित्र, जो बौद्धिक व्यायाम के लिए बनाए जाते हैं। इनमें से अभीष्ट आकृति बहुत प्रयत्न से निकाली जाती है।

एक चित्राकृति में विविध चित्राकृतियों का निर्माण विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक है। एक आकार को दूसरे आकार में उलट-पलट कर परिवर्तन करना हस्त-कौशल का सूचक है।

इसी क्रम में आधुनिक भावचित्र दर्शक को चित्रकार के प्रति साधुवाद देने के लिए मुखरित किए बिना नहीं रह सकता।

यह गर्व नहीं, किन्तु आत्म-गौरव के साथ कहा जा सकता है कि तेरापंथ संघ की चित्रकला आधुनिक चित्र-मर्मज्ञों की दृष्टि में विशेष स्थान प्राप्त किए हुए है।

शिल्प-कला

समय-समय के मानदण्ड भिन्न-भिन्न होते हैं। आज जिन मान्यताओं का मूल्यांकन हो रहा है, पुराने जमाने में उनसे भिन्न मान्यताओं का मूल्यांकन होता था। वर्तमान युग में जो महत्त्व शिक्षा को मिल रहा है, प्राचीन युग में वह महत्त्व शिल्पकला को मिलता था।

आज लड़कों की योग्यता शिक्षा के माध्यम से आंकी जाती है, उस युग में शिल्प-कला के माध्यम से परखी जाती थी।

पुरातन जमाने में आजीविकोपार्जन का प्रमुख साधन शिल्प-कला को ही मान लिया गया था। उसके द्वारा ही व्यक्ति स्त्रियों के भरण-पोषण का भार वहन करते थे। उस समय में ऐसी परम्परा थी कि कन्या के माता-पिता अपनी कन्या की शादी उसी व्यक्ति के साथ करते थे, जो कि शिल्प-कला में पूर्ण निपुणता-प्राप्त होता था।

कुमार के माता-पिता भी इस बात पर विशेष ध्यान देते थे कि कुमार किस प्रकार कला में दक्षता प्राप्त कर सकता है।

ज्ञाता सूत्र में कुमार मेघ के जीवन-प्रसंग को प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है कि मेघकुमार के माता-पिता ने अपने पुत्र को कला में दक्ष बनाने के लिए कलाचार्य के पास भेजा था।

कन्याओं के लिए शिल्पकला का प्रशिक्षण अनिवार्य नहीं था। परन्तु उनको इस प्रकार की कला सिखाई जाती थी, जिससे वे अपने जीवन को सरस और प्रकृति को मिलन-सार बना सकें।

शिल्प-कला की अनिवार्यता

जब व्यक्ति जंगल में अपना जीवन बिताते थे, तब किसी भी प्रकार के शिल्प की जरूरत नहीं होती थी। पर जब वे जंगल को छोड़कर शहरों में बसने लगे, व्यक्तिगत जीवन से सामूहिक वातावरण की ओर अग्रसर होने लगे, तब विभिन्न शिल्प और शिल्पकारों की आवश्यकता महसूस हुई।

पन्नवणा सूत्र में विभिन्न शिल्पकारों की नामावली उपलब्ध होती है :—

१. तुन्नाग	=	रफ्फू करने वाला
२. तन्तुवाय	=	कपड़ा बुनने वाला
३. बहुकार	=	मोती आदि पिरोने वाला
४. देयड़ा	=	मराक बनाने वाला
५. वरूड़	=	पिच्छी बनाने वाला
६. छव्वीह	=	चटाई बनाने वाला
७. काष्ठ पादुकार	=	काष्ठ की पादुका बनाने वाला
८. मुंज पादुकार	=	मूंज की पादुका बनाने वाला
९. बण्क्षार	=	वाहन बनाने वाला
१०. छत्राकार	=	छत्ता बनाने वाला
११. लेप्पकार	=	मूर्तियाँ बनाने वाला
१२. चित्तकार	=	चित्र बनाने वाला
१३. शंखकार	=	शंख बनाने वाला
१४. दंतकार	=	दांत निर्मित करने वाला

१५. भांडकार	=	घड़ा बनाने वाला
१६. कोड़ीगार	=	कोड़ियों की माला बनाने वाला
१७. सेल्लकार	=	भाला आदि शस्त्र बनाने वाला।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में शिल्पकारों का उल्लेख नामानुक्रम से मिलता है।

नवनारू (प्रथम)

१. कुंभकार २. पटेल ३. सुनार ४. सूर्यकार ५. गन्धर्व
६. नाई ७. माली ८. कांछी ९. तंबोली।

नवनारू (द्वितीय)

१. चमार २. कोल्हूचालक ३. घांची ४. छींपा ५. कसारा
६. दर्जी ७. ग्वाला ८. भील ९. धीवर।

अनुयोग द्वार में ५ शिल्पकारों की नामावली उपलब्ध है—

१. कुंभकार २. चित्रकार ३. दर्जी ४. लोहकार ५. नाई।

व्याख्या ग्रन्थों में चमार, धोबी, नापित आदि को शिल्पकारों में नहीं माना गया है।

इस शिल्पकला ने ही व्यक्ति को विशिष्ट सभ्य और शालीन बनाने में सहयोग दिया है, तथा व्यक्ति को स्वस्थ पद्धति से सामूहिक जीवन जीने के योग्य बनाया है।

मूर्ति-शिल्प

मूर्तिशिल्प कलाचार्यों तथा शिल्पकारों के कलाकौशल के प्रदर्शन का सर्वोत्कृष्ट विषय रहा है। भारत धर्मप्रधान देश रहा है। भारत भूमि में पग-पग पर प्रतिष्ठित देव-मन्दिर धार्मिक अन्तश्चेतना के प्रतीक हैं। इन मन्दिरों का महत्त्व धार्मिक प्रतिष्ठानों के रूप में तो है ही, किंतु कला-प्रतिष्ठानों के रूप में भी असाधारण है। इन मन्दिरों को भव्य कलाकृति के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय उन कलाचार्यों को है, जिन्होंने धर्म के आदर्शों को अभिव्यक्ति देने के लिए महत्त्वपूर्ण प्रतिमाओं एवं कलात्मक मूर्तियों का निर्माण कर अपनी गहन कला-साधना को प्रदर्शित किया है।

जैन-मंदिर की कलात्मक मूर्तियों और प्रतिमाओं के निर्माण ने कला के उज्ज्वल इतिहास को समृद्ध बनाया है।

मूर्तियों में अभिनय कला की विशेष मुद्राओं को प्रदर्शित कर लोकमानस की चिर अभिलाषाओं को पूरा करने में मूर्तिकारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रतिमाओं में अधिकांश प्रतिमाएं योगमुद्रा, अभयमुद्रा, शान्तमुद्रा, और ध्यानमुद्रा में प्रतिष्ठित हैं।

मुद्रा केवल अभिनय की प्रतीक ही नहीं, किन्तु अन्तःकरण को रूपान्तरित करने में मुद्राओं की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

विज्ञान ने भी इस तथ्य को प्रमाणित कर दिया है कि ईसाई लोग मृत व्यक्तियों के शव को "पिरामिड" में रखते हैं, और वह "ममीफाइड" हो जाता है (सूख जाता है)। इसे वे लोग ईश्वर का कर्तव्य समझते हैं।

आज वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह ईश्वर के कर्तृत्व की देन नहीं, किन्तु मनुष्यकृत कला का ही परिणाम है।

वैज्ञानिकों का यह अभिमत है कि पिरामिडनुमा मकान में हर चीज सूख जाती है।

कुछ अस्पताल इस आकार के बनाकर देखा गया है कि वहां रुग्ण व्यक्तियों के घाव आदि स्वतः सूख जाते हैं, किसी प्रकार के सेप्टिक होने की आशंका नहीं रहती।

यह सारा आकार का प्रभाव है। तीर्थंकरों ने अन्तश्चेतना को प्रभावित करने के लिए मुद्राओं को महत्त्व दिया है।

मूर्ति-शिल्प के पीछे भी संभवतः यही रहस्य रहा होगा। अधिकांश मूर्तियों में पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, भद्रासन, सिंहासन और गोदोहनासन आदि आसनों को दिखाया गया है।

ये विविध आसन भी अन्तश्चेतना की जागृति के प्रतीक हैं। इस प्रकार की अनेक जैन मूर्तियां पुरातत्त्व-शोधकों द्वारा प्राप्त हुई हैं।

निकट अतीत में सबसे प्राचीन जैनमूर्ति पटना के लोहनीपुर से उपलब्ध हुई है। यह मूर्ति मौर्यकाल की मानी गई है और वर्तमान में वह पटना के म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पॉलिश आज भी मंजिये की घुटाई को तिरस्कृत कर रही है।

लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि में विविध जैन-मूर्तियां मौजूद हैं।

श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी। जैन-मूर्ति-कला की दृष्टि से मथुरा में महत्त्वपूर्ण काम हुआ है। श्री राय कृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा में शुंगकालीन कला मुख्यतः जैन सम्प्रदाय की है।

खण्डगिरि और उदयनगिरि में शुंगकालीन मूर्ति-शिल्प दर्शनीय है।

वहां पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग गुफाएं हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प भी है।

दक्षिण भारत के अलगाले नामक स्थान में खुदाई से जो जैन-मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई०पू० ३०००-२००० के लगभग बताया गया है।

उन मूर्तियों की सौम्य मुद्रा द्रविड़-कला में अपना अद्वितीय स्थान रखती है।

श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में बाहुबलि की सर्व प्रसिद्ध भव्य जैन-मूर्ति संसार की अद्‌भुत कलाकृतियों में से एक है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य से प्रत्येक दर्शक को आश्चर्य-चकित करने वाली है।

यह जैन मूर्ति शिल्पकारों की समस्त विश्व को अनुपम देन है। मौर्य एवं शुंगकाल के पश्चात् भारतीय मूर्तिकला की मुख्यतः तीन धाराएं हैं :—

१. गांधार कला—जो उत्तर-पश्चिम में पनपी है।

२. मथुरा कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई है।

३. अमरावती कला - जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई है।

जैन-मूर्ति-कला का विकास मथुरा-कला से हुआ है। जैन-स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिले हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य-कला की दृष्टि से चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ, आबू के मन्दिर तथा रणकपुर के जैन-मन्दिर भारतीय शैली के संरक्षक रहे हैं। उनकी उत्कीर्ण कला भारतीय उत्कीर्णों में अपना अद्वितीय स्थान रखती है।

इस प्रकार जैन कलाकारों, कलाचार्यों और कृतिकारों ने अन्य कलाओं के साथ मूर्तिशिल्प के सम्बन्ध में भी तत्कालीन जनजीवन की अभिरुचि का सम्यक् दिग्दर्शन किया है।

लेखन-कला

लेखन सिर्फ एक महत्त्वपूर्ण कला ही नहीं है, एक योजक तत्त्व भी है। इसने अनेक देशों की संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज और आचार-विचार को परस्पर जोड़ा है। प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित रखने का श्रेय इसी कला को है। किसी के साथ परोक्ष परिचय प्रायः उसके साहित्य-अनुशीलन से होता है, जिसका आधारभूत तत्त्व लेखन है।

लेखन को ललित-कला का रूप देने में जैन कलाकारों का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

जैन कलाकारों ने अपनी एकाग्र-साधना के द्वारा लेखन-कला को जीवन्त किया है।

जैन आगमों में लेखन पद्धति

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में वर्णित ७२ कलाओं में लेखन-कला को प्रथम स्थान प्राप्त है। नन्दी सूत्र में ३ प्रकार का अक्षर-श्रुत बताया गया है। इसमें पहला संज्ञा अक्षर है, जिसका अर्थ है—अक्षर की आकृति।

हर कला के प्रस्फुटित होने में तत्सम्बन्धी सामग्री की अपेक्षा रहती है। जैसे किसी चित्र का आलेखन करना है, तो उसमें विविध रंग, पिच्छी, कागज, फुट जैसी चीजों की अनिवार्यता रहती है।

ठीक वैसे ही लेखन-कला भी अपनी पूर्ण सामग्री से सापेक्ष होती है।

प्राचीन काल में इस कला को प्रस्फुटित करने में पूर्ण रूप से किस सामग्री ने साथ दिया, यह निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन तत्सम्बन्धी कतिपय उपकरणों का उल्लेख आगमों में मिलता है।

राजप्रश्नीय सूत्र में पुस्तक-वर्णन के प्रसंग में लेखन-सामग्री के उपकरणों का निर्देश किया गया है—

१. कामी—लिखित पत्र की सुरक्षा का उपकरण ।
२. दोरा—पत्र को व्यवस्थित रखने का उपकरण ।
३. लिप्यासन—स्याही रखने का उपकरण ।
४. छंदत स्याही ढकने का उपकरण ।
५. सांकल (डोरी)—पत्र को व्यवस्थित रखने का उपकरण ।
६. मषि (स्याही)—जिससे अक्षर अंकित होते हैं ।
७. लेखनी (कलम)—अक्षर लिखने का उपकरण ।

प्रज्ञापना सूत्र में "पोत्थगार" शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ होता है—लिपिकार ।

स्थानांग सूत्र में पांच प्रकार की पुस्तकों का विवेचन मिलता है—

१. गंडी—अर्थात् वह पुस्तक जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक समान हो ।
२. कच्छपी—ऐसी पुस्तक जो किनारों से संकड़ी और बीच में चौड़ी हो ।
३. मुष्टि—वह पुस्तक जो मुट्ठी में बन्द की जा सके । जैसे वर्तमानिक छोटी-२ डायरियां ।
४. संपुटफलक—काष्ठ-पट्टिका, जिस पर कुछ लिखा जाता है ।
५. सुपाटिका—ऐसी पुस्तक जिसकी लम्बाई कम और मोटाई अधिक हो ।

हरिभद्र सूरी ने भी दशवैकालिक सूत्र में इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है ।

अनुयोग द्वार में "पोत्थकम्म" शब्द वर्णित किया गया है । टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़पत्र अथवा संपुटक पत्र किया है, और "कम्म" शब्द का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना किया है ।

अनुयोग द्वार के इसी सूत्र में आये हुए "पोत्थगार" शब्द का अर्थ टीकाकार ने पुस्तक से आजीविका चलाने वाला किया है ।

भगवती सूत्र के प्रारंभ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है । उसकी पृष्ठ भूमि में लिखने का इतिहास सुरक्षित है ।

ई० सन् की दूसरी शताब्दी में ग्रन्थ ताड़पत्रों पर और चौथी शताब्दी में भोजपत्रों पर लिखे गये । तदनन्तर कागजों का प्रयोग होने लगा । इन सभी प्रमाणों के आधार पर आंका जा सकता है कि लेखन-कला निरन्तर प्रगतिशील रही है ।

वर्तमान में लिपिकला का कुछ अवमूल्यन हुआ है । इस अवमूल्यन में लोक-धारणा का प्रभाव पड़ा है ।

वर्तमान में यह धारणा दृढ़ हो चुकी है कि जो व्यक्ति जितना पढ़ा लिखा होगा, उसकी लिपि उतनी ही भद्दी और भोंडी होगी । इस धारणा के पीछे एक कारण है कि लिखने के साधन बहुत बढ़ चुके हैं ।

ये वे साधन सर्व सुलभ, सुविधाजनक और टिकाऊ भी हैं । सब कुछ होने पर भी यह खेद का विषय है कि इन सुविधाजनक साधनों ने लिपि-सौन्दर्य को बहुत अंशों में खत्म कर दिया है ।

लिपि-सौष्ठव आज अतीत का स्मृति-चिह्न सा रह गया है । यह सब इसलिए हुआ कि आज की यांत्रिक प्रक्रिया ने मनुष्य को पंगु बना दिया है ।

आज खाने-पीने जैसी सर्व-साधारण क्रिया को भी व्यक्ति अपने हाथ से नहीं करना चाहता है । ऐसी स्थिति में कोई अपने हाथ से एक अक्षर लिखे, यह आधुनिक जगत् के लिए आश्चर्यजनक प्रक्रिया हो सकती है ।

तेरापंथ संघ इसका अपवाद रहा है । इस संघ में लिपि-कला को आज भी विशेष गौरव प्राप्त है । इस संघ के एक सुविश्रुत कलाविद् मुनि ने ग्यारह इंच लम्बे व पांच इंच चौड़े पन्ने में चालीस हजार अक्षर लिखकर अपना विशेष कौशल प्रदर्शित किया है ।

लेखक की विशेषता इस बात में है कि नित्य नवीन स्याही से लिखने पर भी अक्षरों में फीके व गहरेपन का कोई भेद नहीं हुआ है । वे अक्षर बोरू की कलम से ऐनक तथा किसी यंत्र की सहायता के बिना लिखे गये हैं ।

सूक्ष्म अक्षर सचमुच ही संसार का आठवां आश्चर्य है ।

साध्वी समाज ने भी सूक्ष्म अक्षरात्मक लिपि-कौशल से एकाग्र-साधना का परिचय दिया है । उनके द्वारा लिखित छोटे-मोटे पत्र, मोनोग्राम और अनेक बेल-बूंटे दर्शक को मन्त्र-मुग्ध करने वाले हैं ।

दीखने में अवश्य वे काली पंक्तियां सी लगती हैं, पर सूक्ष्मवीक्षण यंत्र से निरीक्षण करने से पता चलता है कि वे केवल काली पंक्तियां नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक पंक्ति सुन्दर अक्षरों का समूह है ।

तेरापंथ संघ के साधु-साध्वियों ने लिपि-कौशल को पुनरुज्जीवित कर संसार के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

जैन-परंपरा में ललित कलाओं ने संसार की इन बद्धमूल धारणाओं को निर्मूल कर दिया है कि जैन-धर्म एक असामाजिक धर्म है अथवा जैन धर्म ने लोक जीवन का साथ नहीं दिया अथवा जैन-धर्म नीरस और अव्यावहारिक धर्म है ।

गंभीरता से सोचा जाए तो जैन-धर्म जैसा कलाप्रवण कोई धर्म नहीं है । इसने बाह्यकला को ही नहीं, किन्तु जीवन-कला के विशेष रहस्यों को भी उद्घाटित किया है, जिनमें संसार की समग्र कलाएं सन्निविष्ट हो जाती हैं ।

इसकी कलात्मकता को परिपुष्ट करती है—कषाय-मुक्ति की साधना-पद्धति । सत्य है, अन्तः परिवेश के सौन्दर्य से बढ़कर कोई भी ललित-कला क्या सुन्दर हो सकती है ?

—०—

(समाप्त)

"आयारो" : हिन्दी पद्यानुवाद

☐ मुनि मांगीलाल 'मुकुल'

(गतांक से आगे)

तृतीय उद्देशक : लक्ष्य के प्रति समर्पण

(दोहा)

(३५) मैं कहता हूं कौन नर, हो सकता अनगार।
इसे बताना चाहता, शिष्य ! सुनो, धर प्यार ॥ ४५ ॥
नहीं शक्ति का गोपन करता वही साधुता को वरता।
ऋजु आवरण-शील शिव पथ पर चलता, कष्ट न जो करता ॥ ४६ ॥
इसके जो विपरीत आचरण करने वाला नहीं कभी।
हो सकता अनगार यहां फिर साधु वेषधारी न कभी ॥ ४७ ॥

(३६) जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे व बनाये रखे उसे।
और चित्त के चंचल स्रोतों में न बहे, जग में न फंसे ॥ ४८ ॥

(३७) वीर पुरुष हो चुके समर्पित, महासुपथ के लिए सदा।
प्रण-पालन के खातिर, प्राण विसर्जन करते यहां मुदा ॥ ४९ ॥

जलकायिक जीवों का अस्तित्व और अभयदान

(३८) मुनि जलकायिक जीवलोक को अतिशय ज्ञानी से सुनकर।
उसे बनादे अकुतोभय[1] फिर, भय पैदा न करे बुधवर ॥ ५० ॥

(३९) मुनि जलकायिक जीवों का अस्तित्व नकारे कभी नहीं।
और निज आत्मा का भी अस्तित्व नकारे कभी नहीं ॥ ५१ ॥
जो जलकायिक जीवों का, अस्तित्व नहीं करता स्वीकार।
वह अपनी आत्मा का भी, अस्तित्व नहीं करता स्वीकार ॥ ५२ ॥
जो नास्तिक अपनी आत्मा को भी कर देता अस्वीकार।
वह जलकायिक जीवों का अस्तित्व न कर सकता स्वीकार ॥ ५३ ॥

१. सर्वतः भय रहित।

जलकायिक जीवों की हिंसा

(४०) देख यहां प्रत्येक संयमी हिंसा से विरहित होकर।
वह संयम का जीवन यहां जी रहा है अघ मल धोकर ॥ ५४ ॥

(४१) हम अनगार साधु हैं, कुछ यों करते हुए निरूपण भी।
गृहवासी ज्यों करते हैं वे सलिलकाय का विहनन भी ॥ ५५ ॥

(४२) वह नानाविध शस्त्रों से जलकाय-क्रिया में व्यापृत हो।
जलकायिक जीवों की हिंसा करता स्वयं अनावृत हो ॥ ५६ ॥
जल के जीवों की ही हिंसा नहीं सिर्फ है वह करता।
किन्तु अन्य नाना जीवों की हिंसा भी करता रहता ॥ ५७ ॥

(४३) इसी विषय में किया निरूपण प्रभु ने जो कि विवेक यथा।
वर्तमान जीवन हित करता समारम्भ वह मनुज तथा ॥ ५८ ॥

(४४) पूजा या सम्मान प्रशंसा जन्म मरण या मोचन-हित।
दुःख-प्रतिकार हेतु अथवा आरम्भ यहां वह करता नित ॥ ५९ ॥

(४५) कोई साधक स्वयं सलिल जीवों की हिंसा करता है।
पर से करवाता, करने वालों को भला समझता है ॥ ६० ॥

(४६) वह हिंसा उस नर के लिए अतीव अहितकर होती है।
वह हिंसा उस नर के लिए अबोधि बीज फिर बोती है ॥ ६१ ॥

(४७) समीचीन दृग से हिंसा के परिणामों को समक्ष प्रवर।
संयम के आराधन में फिर सावधान हो जाता नर ॥ ६२ ॥

(४८) प्रभु से या गृहत्यागी मुनियों से सुन कुछ को होता ज्ञात।
ग्रन्थि, मोह फिर मृत्यु नरक है जल-निकाय हिंसा साक्षात् ॥ ६३ ॥

(४९) फिर भी निज जीवन आदिक के लिए यहां वह हो आसक्त।
जलकायिक प्राणी निकाय की हिंसा में रहता है रक्त ॥ ६४ ॥

(५०) वह फिर नाना शस्त्रों से जयकाय क्रिया में व्यापृत हो।
जलकायिक जीवों की हिंसा करता स्वयं अनावृत हो ॥ ६५ ॥
जल के जीवों की ही हिंसा नहीं सिर्फ है वह करता।
किन्तु अन्य नाना जीवों की हिंसा भी करता रहता ॥ ६६ ॥

जलकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

(५१) सलिल निकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुज सम जानो।
वह अव्यक्त चेतनावाला होता, मैं कहता सच मानो ॥ ६७ ॥
तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जो होता कष्ट।
इन्द्रिय-विकल मनुज को जैसे, सलिल जीव को होता स्पष्ट ॥ ६८ ॥

(५२) इन्द्रिय-गण-संपन्न मनुज के पैर आदि अंगों को जान।
तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा छेदन भेदन से होता कष्ट महान ॥ ६९ ॥
त्यों जल-कायिक जीवों को कष्टानुभूति होती भीषण।
उसे प्रकट करने में अक्षम होते हैं वे प्राणी गण ॥ ७० ॥

(५३) नर को मूर्च्छित करने पर या प्राण वियोजन करने पर।
ज्यों होती कष्टानुभूति, जल-जीवों को उससे बढ़कर ॥ ७१ ॥

हिंसा विवेक

(५४) मैं कहता हूं जीव अनेक प्राणधारी जल-निश्रित हैं।
सभी दार्शनिकगण द्वारा यह तत्त्व यहां पर स्वीकृत हैं ॥ ७२ ॥

(५५) लेकिन इस अर्हद्-दर्शन में सलिल स्वयं ही जीव-स्वरूप।
स्पष्ट निरूपित है, हे पुरुष ! सभी प्राणीगण हैं चिद्रूप ॥ ७३ ॥

(५६) इन जल-कायिक-जीवों के शस्त्रों का कर तू अनुचिंतन।
और स्वयं तू देख उन्हें, हे पुरुष ! स्वतः कर यहां मनन ॥ ७४ ॥

(५७) प्रभु ने कहा कि जलकायिक जीवों के विविध शस्त्र पहचान।
उनका प्रयोग करना हिंसा है, अथवा कि अदत्तादान ॥ ७५ ॥

(५८) आजीविक, शैवों का मत है, हम निज शास्त्रों के अनुसार।
पीने के खातिर हम भली भांति जल ले सकते हर बार ॥ ७६ ॥

(५९) निज सिद्धांतों के अनुसार बौद्धजन फिर यों कहते हैं।
पीते और नहाने के हित हम जल को ले सकते हैं ॥ ७७ ॥

(६०) निज शास्त्रों के प्रमाण दे, फिर नाना शस्त्रों से वे नित्य।
जल जीवों की हिंसा कर फिर उसे मानते हैं औचित्य ॥ ७८ ॥

(६१) दे प्रमाण शास्त्रों का वे मुनि जल-कायिक जीवों की संतत।
हिंसा करने वाले वे, होते न सर्वथा हिंसा-उपरत ॥ ७९ ॥

(६२) जलकायिक जीवों पर जो मुनि शस्त्र-प्रयोग यहां करता।
तत्सम्बन्धी व तदाश्रित हिंसा से कभी नहीं बचता ॥ ८० ॥

(६३) सलिल-जीव पर जो न शस्त्र का समारम्भ करता जाता।
तत्सम्बन्धी व तदाश्रित इन आरंभों से बच जाता ॥ ८१ ॥

(६४) सलिल शस्त्र का समारम्भ मेधावी नर न करे यह जान।
न करायें, फिर करने वालों को न भला समझे मतिमान् ॥ ८२ ॥

(६५) जिसके परिज्ञात होते ये जल सम्बन्धी कर्मारम्भ।
वही कर्मत्यागी मुनि होता, ऐसा मैं कहता निर्दम्भ ॥ ८३ ॥

(क्रमशः)

—०—

साहित्य-समीक्षा

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन

(हिन्दी पद्यानुवाद)

अनुवादक—मुनिश्री मांगीलाल "मुकुल"

(गतांक से आगे)

(५)

भारतीय वाङ्मय में अर्द्धमागधी जैन आगमों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। न केवल जैन दर्शन, आचार एवं संस्कृति के ही वे उद्बोधक हैं, अपितु भारतीय अध्यात्म, परम्परा, आचार-विद्या, तत्त्व-ज्ञान तथा लोक स्थिति का जैसा चित्रण उनमें हुआ है, वह उन द्वारा उद्बोध्य सम्प्रदायातीत शाश्वत जीवन-दर्शन एवं विश्व जनीन संस्कृति का परिचायक है।

अर्द्धमागधी आगम वाङ्मय में दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन का अपना अप्रतिम स्थान है। शब्द संयोजना में कालाश्रित ऐतिहासिक दृष्टि से न देखकर यदि हम विषय-वस्तु की अपेक्षा से परिशीलन करें तो यह अस्पष्ट नहीं रहेगा कि बहुत संक्षिप्त शब्दावली में आगम वाङ्मय का नवनीत इनमें समाश्रित है। अतः इनकी मूल संज्ञा की किसी भी प्रकार असार्थकता नहीं मानी जा सकती। यह आगम-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं, जो कभी उत्तर भारत एवं मध्य प्रदेश में लोकजनीन सर्व-जन-व्यवहार्य भाषा के रूप में जन-जन द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत थी। पर परिवर्तन युगीन परिस्थितियों में आज प्राकृत की वह अवस्था नहीं रही। आज उसका स्थान उत्तर भारत में मुख्यतः हिन्दी और उसकी बोलियों ने ले लिया है। इसलिए यह नितांत अपेक्षित है कि तद्गत विश्वजनीन विचार सम्पदा का लाभ हिन्दी भाषी नर-नारियों को प्राप्त हो।

यही कारण है कि अनेकानेक प्राकृत, संस्कृत तथा उभयमिश्रित व्याख्याओं के बावजूद इन महनीय आगम-ग्रन्थों का प्रामाणिक एवं प्रांजल अनुवाद हिन्दी भाषा में हो। इस ओर प्रशस्य कार्य हुआ है।

इस प्रसंग पर यह उल्लेख करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि आगम साहित्य के सूक्ष्म परिशीलक, स्वाध्यायरत साधक मुनिश्री मांगीलालजी "मुकुल" ने वस्तुतः एक ऐतिहासिक कार्य किया है, जिसके लिए वे सर्वथा वर्द्धापनीय हैं।

ये दोनों आगम ग्रन्थ अधिकांशतः पद्यबद्ध हैं। पाठक को तन्मयता देने में पद्य की अपनी विशेषता है। उसमें लयात्मकता होती है। मानव जीवन भी अनेक दृष्टियों से लयाश्रित है अतएव पद्य पढ़ने में जो वह आनन्द लेता है, वह गद्य में नहीं ले पाता।

पद्य की अन्तःस्थित संगीत की स्वर लहरी तद्गत भावों में पाठक को आप्लावित कर देने में अपना एक अद्भुत वैशिष्ट्य रखती है। पठनीय वस्तु में तद्गत भाव राशि में वह एक प्रकार से खो जाता है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय का अधिकांश भाग पद्यबद्ध है।

मुनिश्री "मुकुल" ने इन दोनों आगम ग्रन्थों को पद्यों में गूंथा है। पढ़ने से स्पष्ट है कि उनका यह पद्यानुवाद केवल प्राकृत के शाब्दिक कलेवर का हिन्दीकरण ही नहीं है, प्रत्युत प्राकृत के परिवेश में स्थित निगूढ़ भाव राशि का सफल प्रस्तुतीकरण है।

मुनिश्री "मुकुल" द्वारा प्रयुक्त भाषा सरल तथा प्रसाद गुणयुक्त है। जन-जन तक महावीर वाणी के तत्त्वों को पहुंचाने का जो अभिप्रेत उद्दिष्ट है, उसमें वे पर्याप्त सफल रहे हैं। भाषा में बनाव नहीं है, सहजता है। बनाव से भाषा के बाह्य परिवेश में अवश्य आकर्षण उत्पन्न होता है, पर अन्तर्गर्भित भावों में कुछ व्यवहिति सी आ जाती है। मुनिश्री द्वारा प्रयुक्त भाषा की सहजता और अकृत्रिमता के कारण यह नहीं हो पाया है।

काव्य के अनुशीलक भली-भांति समझते हैं कि स्वतंत्र रूप में काव्य रचना जितना सहज एवं सरल है, किसी काव्यात्मकता या पद्यात्मक कृति का पद्यात्मक अनुवाद करना उतना सरल नहीं है। यह तभी सध पाता है जब रचनाकार में नैसर्गिक कवित्व हो। मुनिश्री द्वारा किए गए इन दोनों ग्रन्थों के अनुवाद से स्पष्ट है कि उन्हें सहजात कवित्व प्राप्त है, यही कारण है कि उन द्वारा अनूदित पद्य अनूदित से न लगकर मूल से लगते हैं। प्रवाहापन्नता एवं संचरणशीलता जो कविता के मुख्य गुण हैं, इनमें अक्षुण्ण रह पाए हैं। यह हर्ष का विषय है।

स्वाध्याय की दृष्टि से इन अनूदित आगम-ग्रन्थों की मैं बहुत बड़ी उपयोगिता मानता हूं। मूल प्राकृत में यथावत् शुद्ध रूप में स्वाध्याय करने में अक्षम नर-नारी इनका स्वाध्याय कर लगभग वैसी ही आनन्दानुभूति कर सकेंगे जो मूल ग्रन्थों के स्वाध्याय से लभ्य है, साथ ही साथ आगम-गत भाव भी स्वायत्त होते जाएंगे, यह दुहरा लाभ होगा।

मुनिश्री 'मुकुल" ने अपने अनुवाद में प्रायः तत्सम शब्द-प्रधान भाषा का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं वैसा नहीं हो पाया है, जिसे भाव प्रस्फुटन की दृष्टि से अनुपादेय नहीं कहा जा सकता, फिर भी यदि वे इस ओर अधिक ध्यान रखते तो भाषा गठन और समीचीन हो पाता, उसमें जरा भी श्लथता न आती। यत्र तत्र मुद्रणगत त्रुटियां तो हैं, पर इन ग्रन्थों का प्रकाशन सुन्दर हुआ है। पाद-टिप्पणियों की भावों के स्पष्टीकरण में अच्छी उपयोगिता है।

इन महत्त्वपूर्ण कृत्तियों के लिए में मुनिश्री "मुकुल" का अभिनन्दन करता हूं और यह कामना करता हूं कि उनकी लेखनी में अन्य आगम ग्रन्थ भी हिन्दी काव्यात्मक परिवेश प्राप्त कर शीघ्र ही प्रकाश में आएंगे। हिन्दी भाषी नर-नारी निश्चय ही इससे बहुत उपकृत होंगे।

आगम वाङ्मय में रुचिशील अध्येताओं, पाठकों तथा भारतीय जीवन-दर्शन के जिज्ञासुओं से मेरा अनुरोध है कि वे इन ग्रन्थों का अवश्य अध्ययन करें। उन्हें काव्यात्मक आनंद के साथ जीवन तत्त्व का सहज साक्षात्कार होगा।

डॉ० छगनलाल शास्त्री, सरदारशहर

६

आपके द्वारा दिनांक १७-९-७६ के संदर्भ से प्रेषित **दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र** का हिन्दी पद्यानुवाद यथासमय प्राप्त हुआ था। पुस्तक का आद्योपान्त मैंने अध्ययन कर लिया है। भेंट के लिए बहुत धन्यवाद। अपने विचार मैं यथाशीघ्र भेजूंगा, ऐसी आशा है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यप्रवर तुलसीजी की सत् प्रेरणा से उनके शिष्य इसी प्रकार अन्यान्य आगमों के भी अनुवाद प्रकाश में लायेंगे, ऐसी आशा है। इस अनुवाद की भाषा भी सरल है। इससे भी अधिक सरलता अपेक्षित है। जितनी अशुद्धियों का पत्र लगाया गया है, उससे भी कहीं और अधिक अशुद्धियां अभी रह गई हैं। तकनीकी शब्दों का स्पष्टीकरण भी यथास्थान होना आवश्यक है। इन सभी से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ेगी। अन्त में इस आगम के पद्यानुवाद का स्वागत करता हूं और मुनिश्री के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूं।

धन्यवाद। पत्र मिलने पर पत्रोत्तर दीजिएगा।

डॉ० वीरेन्द्रकुमार जैन, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
शासकीय महाविद्यालय, पन्ना (म० प्र०)

७

प्रस्तुत दोनों आगमों की गणना अंग-उपांग के बाद मूल आगमों में की गई है, परन्तु दोनों ही आगम अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं।

दशवैकालिक में बहुत सुन्दर शैली एवं सरल भाषा में साध्वाचार का निरूपण किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र अपने नाम के अनुरूप श्रेष्ठ है ही। इसमें द्रव्य और आचार दोनों का समावेश है। जैन-दर्शन के आत्मवाद, कर्मवाद, तत्त्व, द्रव्य, गुण-पर्याय तथा संसार एवं मोक्ष के हेतु आदि प्रमुख विषयों का सुन्दर वर्णन किया गया है। अनेक अध्यायों में संवाद एवं कथानक तथा रूपकों के द्वारा गहन विषय को अति सरल कर दिया है, जिससे सामान्य व्यक्ति भी सैद्धांतिक बातों को सरलता से समझ सकें।

मुनि मांगीलालजी "मुकुल" ने उभय आगमों का हिन्दी पद्यानुवाद करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वस्तुतः अनुवाद बहुत सुन्दर और प्रामाणिक है। भाषा और शैली सरल, सरस एवं प्रांजल है। मुकुलजी का प्रयास स्तुत्य है।

—समदर्शी मुनि, (अमर भारती, फरवरी, ७९.)

(समाप्त)

समाचार-दर्शन

जैन विश्व भारती के पावन प्रांगण में मुनिश्री नवरत्नमलजी एवं मुनिश्री राकेश-कुमारजी आदि सन्त विराज रहे हैं, साथ ही उनके द्वारा दैनिक एवं साप्ताहिक कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हो रहे हैं।

जैन विश्व भारती के सभी विभाग प्रगति पर हैं। संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार है—

शोध विभाग

शोध विभाग में निर्माणाधीन जैन विश्वकोश एवं आगम शब्दकोश का कार्य पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहिनों ने ग्रीष्मावकाश से वापिस आने के पश्चात् पुनः प्रारंभ कर दिया है। इस कार्य में साध्वियां भी सहयोग दे रही हैं।

डा० टाटिया विदेश-यात्रा पर

शोध निदेशक डॉ० नथमल टाटिया जून, ८१ के मध्य में स्ट्रासबुर्ग (पेरिस) में होने वाली एक संगोष्ठी में भाग लेने हेतु १४ जून, ८१ को एयर फ्रांस द्वारा फ्रांस गये थे। संगोष्ठी में भाग लेने के पश्चात् डॉ० टाटिया पश्चिम जर्मनी के जैन-विद्या केन्द्रों का अवलोकन करेंगे। इस कार्यक्रम में वे वियेना एवं जेनेवा जायेंगे। तत्पश्चात् यू० एस० ए० (अमेरिका) जाने का कार्यक्रम है। अमेरिका में विस्कोन्सिन विश्वविद्यालय आदि का अवलोकन कर लन्दन जायेंगे। पुनः सितम्बर में लाडनूं आने का कार्यक्रम है।

शिक्षा विभाग

ब्राह्मी विद्यापीठ

ब्राह्मी विद्यापीठ के वर्तमान सत्र १९८१-८२ का प्रारम्भ १५ जून, ८१ से प्रारंभ हो गया है। इस सत्र में सभी कक्षाओं की अध्ययन-रत बहिनों की संख्या ५१ है। ८ नई बहिनें प्रविष्ट हुई हैं।

इस सत्र से राजस्थान शिक्षा बोर्ड, अजमेर का सेकण्डरी एवं हायर सेकण्डरी तथा राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर का बी. ए. प्रथम वर्ष का पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया है।

वर्तमान स्टाफ की परिपूर्ति हेतु अंग्रेजी के एक पूर्णकालीन प्राध्यापक श्री रघुनन्दन-प्रसाद गुप्ता तथा हिन्दी एवं गणित तथा विज्ञान के दो अंशकालीन प्राध्यापकों की नियुक्ति की गई है। अध्ययन विधिवत् प्रारम्भ हो गया है।

इस वर्ष सुश्री शान्ता जैन राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर अन्तिम वर्ष की परीक्षा दे चुकी है तथा स्थानीय ४ बहिनों ने बी. ए. तृतीय वर्ष की परीक्षा दी है।

गत सत्र में १९८०-८१ का स्नातक तथा प्राक् स्नातक कक्षाओं का वार्षिक परीक्षा-फल ९६ फीसदी रहा।

सभी प्राध्यापकगण एवं प्राचार्यश्री जयन्तीप्रसाद जैन एम० ए०, शास्त्री श्री भैरूलाल बरड़िया के निदेशक के निर्देशन में यथाविधि अध्यापन कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

मुमुक्षु कुमारी शान्ता जैन पुरस्कृत

भगवान् महावीर जयन्ती के अवसर पर श्री जैन श्वे० स्था० जैन शिक्षण संस्थान, ब्यावर की ओर से श्री इन्दिरा देवी जैन निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था, जिसका विषय था—जैन धर्म बनाम विश्वधर्म। इस प्रतियोगिता में पारमार्थिक शिक्षण संस्था (जैन विश्व भारती, लाडनूं की मुमुक्षु बहिन कुमारी शान्ता जैन ने भी भाग लिया था, जिसमें उसे तृतीय स्थान प्राप्त हुआ है तथा रुपये १२१/- से पुरस्कृत कर प्रमाण-पत्र दिया गया है।

इस प्रतियोगिता में विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय स्तर के १९ प्रोफेसरों एवं प्रवक्ताओं ने भाग लिया था।

यहां यह ज्ञातव्य है कि कुमारी शान्ता जैन एम० ए० अंतिम वर्ष की छात्रा है। इसकी लेखन एवं सम्पादन में विशेष रुचि है।

परीक्षा विभाग

केन्द्र व्यवस्थापकों का शिविर संपन्न

गत दिनांक २७-६-८१ को मुनिश्री नवरत्नमलजी व मुनिश्री राकेशकुमारजी के सान्निध्य में केन्द्र व्यवस्थापकों की द्विदिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें निम्नांकित केन्द्रों के केन्द्र-व्यवस्थापक अथवा उनके प्रतिनिधि उपस्थित हुए--

केन्द्र का नाम	केन्द्र व्यवस्थापक	प्रतिनिधि
श्रीडूंगरगढ़	श्री सुखलाल	—
रतनगढ़	—	श्री तेजकरण गोलछा
लाडनूं	श्रीमती निर्मलादेवी वेद	—
बीदासर	श्री पन्नालाल बैंगानी	—
पाली	—	श्री हस्तीमल सेठिया
देवगढ़	श्री हस्तीमल सेठिया	—
राजसमन्द	श्री कन्हैयालाल कावड़िया	—

कार्यक्रम का शुभारंभ प्रातः साढे आठ बजे श्रीमती निर्मलादेवी बैंद के मंगलाचरण से हुआ। सर्वप्रथम जैन विश्व भारती के कुलसचिव एवं समण संस्कृति संकाय के निदेशक श्री गोपीचन्द चोपड़ा ने अपना संयोजकीय वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा कि—"प्रत्येक क्षेत्र में बालक-बालिकाओं को जैन-विद्या परीक्षाओं एवं पत्राचार पाठमाला में सम्मिलित होने हेतु प्रेरणा देने का कार्य मुख्यतः चारित्रात्माओं का रहता है। साथ-साथ केन्द्र-व्यवस्थापकों का प्रयास भी सराहनीय रहा है।" इस क्रम में श्री तेजकरण गोलछा, श्री सुखलाल मालू, श्रीमती निर्मला देवी बैंद और पं० नाथूलाल जैन "जिज्ञासु" ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए।

मुनिश्री नवरत्नमलजी ने भावी पीढ़ी को सुसंस्कारित करने हेतु बालक-बालिकाओं में तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि पैदा करने पर बल दिया। मुनिश्री राकेशकुमारजी ने कहा "जैन-विद्या परीक्षाओं एवं पत्राचार पाठमाला का कार्य यद्यपि देखने में छोटा लगता है, फिर भी यह बुनियादी कार्य है, अतः इसको सबसे अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। जैन विश्व भारती की ओर से इस कार्य में जितनी शक्ति लगाई जा रही है, उससे और अधिक लगाने की अपेक्षा है।" आगे उन्होंने कहा कि —"महिला जगत् में तो आजकल फिर भी तत्त्वज्ञान सीखने की रुचि देखी जाती है, किन्तु पुरुष वर्ग में इसका अभाव सा है।"

अन्त में कुलसचिव श्री चोपड़ा ने आये हुए केन्द्र व्यवस्थापकों को एवं उन्हें भिजवाने वाली संस्थाओं को धन्यवाद देते हुए आभार प्रदर्शित किया। मुनिश्री के प्रति भी, जिन्होंने समय देकर समुचित मार्गदर्शन दिया, श्रद्धापूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित की गई।

अनुशासन और धर्म

परखो धर्म पुनीत ॥
आण बिना नहीं अंश धरम नों, सूत्र सिद्धान्त संगीत।
लवण रहित जिम विरस रसवती, सरस्वती वचन रहीत ॥
दधि रहित जिम ओदन कहीजे, भोजन घृत रहीत।
खांड रहित जिम मोदक जाणे, गंगोदक आधार रहित ॥
मद रहित ऐरावण हस्ती, ब्राह्मण वेद रहित।
परिवार रहित जिम नायक नरपति, पायक शस्त्र रहीत ॥
फल रहित जिम वृक्ष न शोभे, भिक्षु तपस्या रहीत।
वेग रहित नहीं शोभे तुरंगम, संगम प्रेम रहीत ॥
वस्त्र रहित शृंगार न शोभे, अलंकार स्वर्ण रहीत।
तिम जिन आज्ञा बिन धर्म न दीपे, निगम बतावे नीत ॥

—जयाचार्य ["आराधना", ६-२-१०]

TULASI-PRAJÑĀ

[The Bilingual Journal of Jain Vishva Bharati]

ENGLISH SECTION

Editor
Dr Nathmal Tatia
Assistant Editor
Dr S. C. Jain
Managing Editor
Gopi Chand Chopra

Jain Vishva Bharati, Ladnun [Rajasthan]

TULASĪ-PRAJÑĀ

Vol. VII   August September, 1981   No. 5-6

CONTENTS

On Contribution of Jainology to Indian Karma Structures

L. C. Jain*

&

CK Jain (Res. Sch)

ABSTRACT

Certain Jainological methods of manipulation of karma system through mathematical structures are exposed in working technique involving algebraic aspects and system theoretic approach (developed during the last thirty years of the atomic era), through modern forms and expressions. It may not be emphasised that the Prakrit texts on karma theory contain mathematical system theoretic material commented in symbolic forms.

First the structures of an instant-effective-bond (*samaya-prabaddha*), a nisus (*niṣeka*) and life-time (*sthiti*) structures are exposed. The in-put (*āsrava*), out-put (*bandha* and *nirjarā*) and state transition (*sattva*) are expressed in mathematical forms. Equation of motion in linear and constant forms are also exposed.

Then certain operations including *pariṇāmas* on phases are expressed in their structural forms, and studied for transformations they create in conditions of bond, rise (*udaya*) and existential state (*sattva*).

1. Introduction to the contents

From the *Ṣaṭkhaṇḍāgama* (C. 2nd century A.D.) and the *Kasāyapāhuḍa sutta* (c. 1st century A.D.) Prakrit texts, Nemicandra (c. 11th century A.D.) compiled in abstract form the texts known as *Gommaṭasāra* and *Ḷabdhisāra* respectively. The author has already contributed three research papers regarding the contents of these volumes (1). The commentaries on the works of Nemicandra were prepared respectively by Keśavavarṇī (2) (c. 14th century A.D.). Nemicandra (3), (c. 16th century A.D.), Mādhavacandra Traividya (4) (c. 1203 A.D.), as well as Ṭoḍaramala (5) (c. 1761 A.D.), Abhayacandra Saiddhāntī (6) (c. 13th century) is also known to have compiled a commentary,

*Principal, Govt. College, Sihora (Jabalpur.)

The approach to the topics is set theoretics, (7) and methodology symbolic. (8) In the earlier portions of the texts, post universal (*lokottara*) measures (*pramāṇa*) are set up in relation to the bios detailed with respect to individual control station (*guṇasthānas*) (9). The next part of Gommaṭasāra (Karma-kāṇḍa) details about the theory of karmic bonds, rise and state in structural forms. (10). The material in *Labhdi sāra* deals with the dynamics of the karma system in an elaborate mathematical approach, (11). The equation of motion of the complex system dealing with the nisusus (*niṣekaas*) expressible as tatrads (*catuṣkas*) of (i) Configurations (*prakṛtis*) (ii) mass numbers (*pradeśas*), (iii) energy-levels (*anubhāgā aṁśas*) and (iv) life-time intervals (*sthiti*) pose the most trying problems of bio-science phenomena. (12)

2. Structures in karmic masses

One may recall the treatment of an instant-effective-bond (*samaya-prabaddha*) in a previous research paper (13). In order to understand the structure of a nisus, with life-time zero to prescribed instants, one has to give a general expression to the instant-effective-bond in terms of the configuration, the super-vector-group (*spardhaka*) and the geometric regression (*guṇahāni*). Let $B^{C\alpha}_{S\beta Gr}$ denote the set of karma particles of C_α th configuration ($\alpha=1, 2, \ldots$), of S_β th super-vector-group ($\beta=1, 2, \ldots$) of karma particles contained in G_rth geometric regression ($\gamma=1,2, \ldots$) of the instant-effective-bond (*Samaya prabaddha*) which varies in its contents of karma particles according to variations in yoga or volution and *kaṣāya* or affection. Thus, not only B varies, but its sub-parts in C_α, S_β and G_r also have varied values, every instant. Let the vector groups (*vargaṇā*) contained in $B^{C\alpha}_{S\beta G_r}$ be denoted by W^{I}_{V} where I denotes indivisible-corresponding-sections (*avibhāgī praticchedas*) of affine or antiaffine energy-levels (*anubhāga aṁśa*) of impartation recoil controls in each of subscript V of vectors (*vargas*) contained in a particular vector group. Here I will represent the least value of I, $*S_\alpha$ will denote the total number of super-vector-groups (*spardhakas*) contained in a geometric regression (*guṇahāni*) corresponding to C_αth configuration of karma, and d will denote the common difference through which the vectors go on decreasing at every next step, in the next nisus having an instant less of life time for a particular configuration (14).

Thus,

$$B^{C\alpha}_{S\beta\, G_r} \equiv W^{\beta i * S^{\gamma-1}_{\alpha}}_{\frac{V}{2\gamma-1} - \frac{(\beta-1)\, i\, S^{\gamma-1}_{\alpha}}{2\gamma-1}} + W^{\beta i * S^{\gamma-1}_{\alpha}+1}_{\frac{V}{2\gamma-1} - \left[\frac{(\beta-1)\, i\, * S^{\gamma-1}_{\alpha}}{2\gamma-1}+1\right]\frac{d}{2\gamma-1}}$$

$$+ \ldots + W^{2\beta i * S^{\gamma-1}_{\alpha} - 1}_{\frac{V}{2\gamma-1}\left(\frac{\beta i * S^{\gamma-1}_{\alpha}}{2\gamma-1} - 1\right)\frac{d}{2\gamma-1}} \quad \ldots(2.1)$$

This gives a general expression which may be further detailed as follows.

Thus the bond fluent of first super vector group of the first geometric regression of first configuration (so labelled) is

$$B^{1}_{11} \equiv W^{S}_{V} = W^{S+1}_{V-d} + W^{S+2}_{V-2d} + W^{S+3}_{V-3d} + \ldots + W^{2S-1}_{V-(S-1)\,d} \quad \ldots(2.2)$$

The bond fluent of second super-vector-group of the first geometric regression of first configuration is

$$B^{1}_{21} \equiv W^{2S}_{V-Sd} + W^{2S+1}_{V-(S+1)d} + W^{2S+2}_{V-(S+2)d} + \ldots + W^{3S-1}_{V-(2S-1)d} \quad \ldots(2.3)$$

The bond fluent of third super-vector-group of the first geometric regression of first configuration is

$$B^{1}_{31} \equiv W^{3S}_{V-2Sd} + W^{3S+1}_{V-(2S+1)d} + \ldots + W^{4S-1}_{V-(3S-1)d} \quad \ldots(2.4)$$

etc. till $V/2^{-1}$ number of particles are not obtained. Thus the bond fluent of the *n*th super-vector-group of first geometric regression of the first configuration is

$$B^{1}_{n1} \equiv W^{ns}_{V-(n-1)sd} + W^{ns+1}_{V-((n-1)s+1)d} + \ldots + W^{(n+1)s-1}_{V-\{(ns-1)\}d} \quad \ldots(2.5)$$

The bond fluent of first super-vector-group of *second* geometric regression of first configuration is

$$B^{1}_{12} \equiv W^{(n+1)s}_{\frac{V}{2}} + W^{(n+1)s+1}_{\frac{V}{2}-\frac{d}{2}} + \ldots + W^{(n+1)s+s-1}_{\frac{V}{2}-(S-1)\frac{d}{2}} \quad \ldots(2.6)$$

Similarly,

$$B^{1}_{22} \equiv W^{(n+2)s}_{\frac{V}{2}-s.\frac{d}{2}} + W^{(n+2)s+1}_{\frac{V}{2}-(s+1)\frac{d}{2}} + \ldots + W^{(n+2)s+s-1}_{\frac{V}{2}-(2s-1)\frac{d}{2}} \quad \ldots(2.7)$$

And the bond fluent of *n*th super-vector-group of the second geometric regression of first configuration is

$$B^1_{n2} \equiv W^{2ns}_{\frac{V}{2}-(n-1)s\cdot\frac{d}{2}} + W^{2ns+1}_{\frac{V}{2}-[(n-1)(s+1)]\frac{d}{2}} +$$

$$\dots + W^{2ns+s-1}_{\frac{V}{2}-(ns-1)\frac{d}{2}} \qquad \dots(2.8)$$

Similarly the bond fluent of first, second etc. super-vector-groups of rth geometric regression of first configuration are given as follows :

$$B^1_{1r} \equiv W^{\{(r-1)n+1\}s}_{\frac{V}{2^{r-1}}} = W^{\{(r-1)n+1\}s+1}_{\frac{V}{2^{r-1}}-\frac{d}{2^{r-1}}} + \dots\dots$$

$$+\dots+W^{\{(r-1)n+1\}s+s-1}_{\frac{V}{2^{r-1}}-(s-1)\frac{d}{2^{r-1}}} \qquad \dots(2.9)$$

$$B^1_{2r} \equiv W^{\{(r-1)n+2\}s}_{\frac{V}{2^{r-1}}-s\frac{d}{2^{r-1}}} + W^{\{(r-1)(n+2)\}s+1}_{\frac{V}{2^{r-1}}-(s+1)\frac{d}{2^{r-1}}} + \dots\dots$$

$$+\dots+W^{\{(r-1)n+2\}s+(s-1)}_{\frac{V}{2^{r-1}}-(2s-1)\frac{d}{2^{r-1}}} \qquad \dots(2.10)$$

$$B^1_{nr} \equiv W^{rns}_{\frac{V}{2^{r-1}}-(n-1)s\frac{d}{2^{r-1}}} + W^{rns+1}_{\frac{V}{2^{r-1}}-\{(n-1)s+1\}\frac{d}{2^{r-1}}} + \dots\dots$$

$$+\dots+W^{rns+s-1}_{\frac{V}{2^{r-1}}-(ns-1)\frac{d}{2^{r-1}}} \qquad \dots(2.11)$$

Similarly the bond fluent, for second, third and upto one hundred forty eighth configuration may be depicted through W^I_V the B'S. There will be difference in the values of r, d, v, s, and they be shown as variables in manipulation of different configuration, but the structures for all configurations will be grouped as above matrices' summation. Thus in $B^{C\alpha}_{S\beta\, G_r}$, the second super-vector-group of the third geometric regression of Cαth configuration of karma will be given as under .

$$B^{C\alpha}_{S\beta\, G_r} \equiv W^{2i\,{}^*S^2_\alpha}_{\frac{V}{2^2}-\frac{i}{2^2}\frac{d}{2^2}} + W^{2i\,{}^*S^2_\alpha+1}_{\frac{V}{2^2}-\left(\frac{i}{2^2}+1\right)\frac{d}{2^2}} + \dots\dots$$

$$+\dots+ W^{3i\,{}^*S^2_\alpha-1}_{\frac{V}{2^2}-\left(\frac{2\cdot i\cdot {}^*S^2_\alpha}{2^2}-1\right)\frac{d}{2^2}} \qquad \dots(2.12)$$

Where ${}^*S_\alpha$ will denote the total number of super-vector groups contained in a geometric regression G_r corresponding to Cαth configuration of *karma* as shown above.

The total number of W's above will denote the numbers of instants in the lot (set) of life-time stay of the *karma* bond corresponding to a particular configuration and this will be denoted by cardinal of the set β family, for a particular geometric regression.

Thus the number of nisusus, represented by $B^{C\alpha}_{S\beta\, G_r}$ will be $\beta\,.\,\gamma$ for a particular configuration and for all configurations it will be $\beta\,.\,r-\alpha$, constituting a three dimentional matrix.

For an input of instant effective-bond B or due to change of Yoga (16), several B'*s*, say xB, shall also have the same total number of W'*s*, i.e., $\beta\,.\,\gamma\,.\,\alpha$ although the other quantities will have an over-all change proportional to x. Let the product $\beta\,.\,\gamma\,.\,\alpha$ be denoted by y. Then the change in the y th nisus W_y till it decays shall be

$$a_y\frac{d^yW_y}{d\,l^y} \quad \text{or} \quad a_y z^y(t)$$

Similarly change in the next will be $a_{y-1}z^{y-1}(t)$ and so on. In the end the total change in the input column (in the *karma* life-time structure) in y instants will be zero if it is time-invariant, that is if

$$a_y z^y(t)+a_{y-1}z^{y-1}(t)+\dots\dots+a_0=0 \qquad \dots(2.13)$$

Similar situation may arise for all state columns. But when there are changes, matters from solutions will become very complicated and require a computer's technique in graphics of events for manipulation.

As the instant-effective-bond can be put as an input-values vectors column, the whole change may be denoted by dB/dt also, as an instant, or d(xB)/dt in special *Yoga* and *Kaṣāya* circumstances.

The geometric regressions could also be put in a matrix form. Thus the nth geometric regression of *karmic* matter-separate from indivisible-corresponding-sections could be written in the form

$$\left\{\begin{bmatrix} \frac{V}{2^{n-1}}-(WS-1)\frac{d}{2^{n-1}}, \ldots, & \frac{V}{2^{n-1}}-(2W-1)\frac{d}{2^{n-1}}, & \frac{V}{2^{n-1}}-(W-1)\frac{d}{2^{n-1}} \\ \vdots & \vdots & \vdots \\ \frac{V}{2^{n-1}}-(W(S-1)\ 1)\frac{d}{2^{n-1}}-, \ldots, & -\frac{V}{2^{n-1}}-(W-1)\frac{d}{2^{n-1}}, & \frac{V}{2^{n-1}}-\frac{d}{2^{n-1}} \\ \frac{V}{2^{n-1}}-W(S-1)\frac{d}{2^{n-1}}-, \ldots, & -\frac{V}{2^{n-1}}-W\frac{d}{2^{n-1}}, & \frac{V}{2^{n-1}} \end{bmatrix}\right\} \quad \ldots(2.14)$$

when basic vectors in terms of the fractional multiples of V as elements, regressive with fractional multiple of basic vectors d as common difference, vector group (or simply vectors w as numbers of rows) and tensors s as number of columns starting from extreme right lowest corner represent n various geometric regressions.

Similarly, the following matrices, have the same number w of rows and the number s of columns, as above, have *i* as a notation for indivisible-corresponding-sections, and represent the imparlation intensities associated with each basic vector of the corresponding elements of the above matrices according to the position in the rows and columns.

The *n*th geometric regression of the recoil *anubhāga* intensity is given by

$$\left\{\begin{matrix} nsi+(w-1), \ldots, & ((n-1)s+2)\,i+(w-1), & ((n-1)\,s+1)i+(w-1) \\ \vdots & \vdots & \vdots \\ nsi+1, \ldots, & ((n-1)s+2)\,i+1, & ((n-1)\,s+1)\,i+1 \\ nsi, \ldots, & ((n-1)s+2)\,i, & ((n-1)\,s+1)\,i \end{matrix}\right\} \quad \ldots(2.15)$$

All the above matrics are in correspondence with a particular configurational structure in relation to *karmic* bonds etc.

Further the equation (2.13) may be written as

$$z(t)=Az(t) \quad \ldots(2.16)$$

or

$$\frac{d}{dt}\begin{bmatrix} z_y(t) \\ \vdots \\ z_2(t) \\ z_1(t) \end{bmatrix} = \begin{bmatrix} 0 & 1 & 0 & 0 \ldots\ldots 0 \\ 0 & 0 & 1 & 0 \ldots\ldots 0 \\ \vdots & \vdots & \vdots & \vdots \\ -a_0 & -a_1 & -a_2 \ldots & \ldots -a_{y-1} \end{bmatrix} \begin{bmatrix} z_y(t) \\ z_{y-1}(t) \\ \vdots \\ z_1(t) \end{bmatrix} \quad \ldots(2.17)$$

The solution of the above matric differential equation gives

$$z(t)=e^{At}z(0)=\phi(t)z(0) \quad \ldots(2.18)$$

where $z(0)$ is $z(t)$ at $t=0$, and

$$e^{At}=\phi(t)$$

is called tracnition matric which is a $y \times y$

square matric by

$$\phi(t)=\begin{bmatrix} 0 & 1 & 0 & 0 & 0\ldots\ldots 0 \\ 0 & 0 & 1 & 0 & 0\ldots\ldots 0 \\ \ldots & \ldots & \ldots & \ldots & \ldots\ldots\ldots \\ \ldots & \ldots & \ldots & \ldots & \ldots\ldots\ldots \\ -a_0 & -a_1 & -a_2 & \ldots\ldots & -a_{y-1} \end{bmatrix} \quad \ldots(2.19)$$

Mark that e^{At} could also be expanded in the form of a uniformly covergent series

$$e^{At}=I+At+\ldots + \frac{A^n t^n}{\underline{|n}} + \ldots \quad \ldots(2.20)$$

subject to the condition

$$\frac{\| A^n t^n \|}{\underline{|n}} \leqslant \frac{\| A \|^n \mid t \mid^n}{\underline{|n}} \quad \ldots(2.21)$$

Thus the instant-effective-bond comes as an input wave group, goes as an output-wave group, and what stays is the state-wave group in bond, in tensorial forms as above. A more elaborate form of derivation of the differential equation and its solution may be sought, by assuming the form of a variable nisus in the triangular matrix for state-transition phenomena. We may also represent the input-wave or output wave group as Ψ in place of $B^{C\alpha}_{S_\beta G_\gamma}$ with the matrix form as detailed above, as a wave tensorial function of *Yoga* and *Kaṣāya* as well as time. If *Yoga* and *Kaṣāya* are kept constant, the wave function may be said to satisfy

$$\phi_1(v, \Psi)\nabla^2\Psi+\phi_2(v, i)\Psi=\phi_3(v, i)\frac{\partial\Psi}{\partial t} \quad \ldots(2.22)$$

ϕ_1, ϕ_2, ϕ_3 could also be constants in tensorial form for certain fixed values of V and i, the threshold creator quanta of *karmic* matter mass and its intensity of recoil energy. The *karmic* wave contains mass and energy in subtle forms as above. We know that the configuration will take the shape of waves, for according to Jain school an ultimate particle at one instant, by virtue of velocity could be present at *more than one point* in space. In any configuration it has a momentum and energy of period is inter-*muhūrta*,* (numerate *āvalis* : set of instants ranging from an instant greater than *āvali* to fortyeight minutes less two instants. *Bhinna muhūrta* is a muhūrt-less instant. The number of *pariṇāmas* is innumerate universes (set of points), with similar increment, in flow of time. This activity may be for annihilation-sameliness (*kṣāyika samyaktva*), for parting with endless-bonding of affection *anantānubandhī kaṣāya*), for subsidence or annihilation of mixed disposition delusion (*deśa* or *sakala cāritra*). The bonding of life-time is also altered proportionately, in ratio of innumerate part of *Palya*, decreasing in every section of time-interval of inter-*muhūrtas*. This results in infinite times purity, bonding of infinite times of graceful recoil intensity, bonding of infinitesimal part of ungraceful recoil intensity, and numerate thousand terms reduction in life-time bonding.

The protract *anukṛṣṭi* structure of the *pariṇāmas* (resulting phases) is calculated as follows. (20)

The progression is arithmetical and the following formulae are applied in manipulation,

SARVADHANA is the sum, *gaccha* is number of term, *ādi* is the first term, *caya* is the common difference. The forms in which the formulas appear are :

$$\textit{Sarvadhana} \text{ or } \textit{śreḍhiyoga} = \frac{\textit{gaccha}}{2}\left[2(\textit{ādi}) + (\textit{gaccha} - 1)\,\textit{caya}\right]$$

$$\textit{caya} = \frac{\textit{śreḍhiyoga} - (\textit{gaccha})(\textit{ādi})}{\left(\dfrac{(\textit{gaccha})^2 - \textit{gaccha}}{2}\right)}$$

$$= \frac{\textit{Śreḍhiyoga}}{(\textit{gaccha})^2} \times \frac{1}{\textit{saṁkhyāta}}$$ (approximetely) there, Saṁkhyāta is to be solved for by the method of indeterminate analysis)

$$\textit{caya dhana} = [\textit{sarvadhana} - (\textit{gaccha}\ (\textit{ādi}))]$$

$$\textit{ādi} = \frac{\textit{sarvadhana} - \textit{cayadhana}}{\textit{gaccha}}$$

$$\textit{ādi dhana} = \textit{sarvadhana} - \textit{cayadhana}$$

$$= \textit{ādi} \times \textit{gaccha}$$

For illustrating the general and protract structures the following working symbolism is adopted :

Jagaśreṇī (world-line)	L
Asaṁkhyāta (innumerate)	d
Saṁkhyāta (numerate)	s
Āvali (trail)	R

*cf. Dhavalā, 3/1, 2, 6/67/6. cf. also 3/1,2,6/69, 5 for approximate *muhūrta*, which may be greater than a *muhūrta*, and may also he called *antar muhūrta*.

Last portion in relation to last instant $\dfrac{L^3a\,[Rss\,\{s\,(2s+1)+1\}-2]}{(Rsss)\,(Rsss)\,(s)\,(2)\,(Rss)}$

The minimum protract in relation to first instant is

$$\frac{L^3a\,[Rss\,\{s\,(2s-1)-1\}-2]}{(Rsss)\,(Rsss)\,(s)\,(2)\,(Rss)}$$

or $\dfrac{L^3a}{F^2s}$ where F is Finger (*aṅgula*) set of points.

In the above *pariṇāmas* there is six-station set :

$$\frac{L^3a}{F^2s\left(\frac{F+1}{a}\cdot\frac{F+1}{a}\cdot\frac{F+1}{a}\cdot\frac{F+1}{a}\cdot\frac{F+1}{a}\right)}$$

The structure for the unprecedent activity is similar, but without protract structure. There is no structure for the invariant activity.[21]

It is not understood, how the mathematical correlation has been set up between the structures of the state *karmic* matrix and the above activity structures.

The simultaneity of phases of bios and *karmic* matter without a difference of even an instant is also not explicable in the similar way as is the indivisibility of an instant during the motion of a particle or bios.

REFERENCES

1. (a) *Ṣaṭkhaṇḍāgama* with *Dhavalā* commentary, vols. 1-16, Amaraoti and Vidisha, cf. H.L. Jain, 1939-1959.

(b) *Mahābandha*, volumes 1-7, Bharatiya Jnana Pitha, Kashi, 1947-1958.

(c) *Kaṣāya-Pāhuḍa*, *Jaya Dhavalā* commentory Jaina Sangha, Mathura, 1944. (series). Cf. also *Cūrṇi Sūtras* of Yativṛṣabha, Calcutta, 1955.

(d) *Gommaṭasāra* and *Labdhisāra* of Nemicandra Siddhānta-Cakravartī, alongwith *Manda Bodha Prabodhinī*, *Jīva Tattvā Pradīpikā* and *Samyak Jñāna Candrikā* commentries, edited by G.L. Jain & S.L. Jain, Calcutta, C. 1919, (including *Artha Saṃdṛṣṭi* chapters contributed by Toḍaramala).

2. Cf. 2 (d) 3. Cf. ibid. 4. Cf. ibid.

5. Cf. ibid. 6. Cf. ibid.

7. Jain, L.C., *Set Theory in Jaina School of Mathematics* I.J.H.S., vol. 8, nos. 182, 1973, pp. 1.27

8. (a) Jain, L.C., *On the Jaina School of Mathematics*, C.L. Smṛti Granth, Calcutta, 1967, 265-292 (Eng. Sec.)

(Contd. on Page 18)

Jaina Technical Terms

Dr. Mohan Lal Mehta*

(Continued from previous numbers)

Asiddha, A worldly soul.

Asiddhahetu, Non-existent probans.

Asiddhi, Non-salvation.

Astikāya, An extensive substance.

Astivāda, The doctrine accepting the existence of realities like soul matter, *karma* etc.

Asteya, Non-stealing.

Asthitakalpa, Flexible rules of conduct.

Asthiranāman, A variety of body-making *karma* by the rise of which a living being gets an unfirm body.

Ahiṁsā, Non-injury, non-killing, non-violence, non-harm.

Ahorātra, A day and night.

Ākāśa, Space.

Ākāśāstikāya, An extensive substance in the form of space.

Ākiñcanya, Non-attachment, non-possession.

Ākīṇa, A horse of good breed ; modest.

Ākuṭṭi, Killing, injuring, hurting.

Ākṣepaṇī, A kind of religious story which attracts the hearer to the truth.

Ākhyāyaka, One who predicts the consequences of omens.

Āgati, Birth.

Āgama, Scripture, scriptural knowledge, authority, verbal testimony, word.

Āgāra, A house ; an exception.

Āgāradharma, The duty of a householder.

Āgārin, A householder.

Āghāta, Killing.

Āghātamaṇḍala, A slughter-house.

Ācāmaka, Water removed after boiling rice, pulse etc.

Ācāmla, A kind of austerity in which food is taken without salt etc.

Ācāra, Conduct, behaviour, practice.

Ācāravat, One possessed of right conduct.

Ācārya, A preceptor ; the head of a group of monks.

*Professor of Jaina Philosophy, University of Poona, Pune-7.

Ācelakya, Nakedness, nudity.

Ācchedya, A sin incurred by snatching food from others and giving it to ascetics.

Ājāti, Birth.

Ājīva, A fault incurred by an ascetic by accepting food after making his caste etc. known.

Ājñāpanikā, Incurring *karma* by ordering some evil action.

Ātaṅka, A fatal disease.

Ātapa, A kind of body-making *karma* by the rise of which a soul gets hotbody.

Ātāpana, Practising austerity by enduring heat etc.

Ātman, A soul, a self, a conscious substance, a sentient being.

Ātmarūpa, quality.

Ātmavādin, On who admits the existence of soul as a substance.

Ātmaṣaṣṭhavādin, One who admits existense of soul in addition the to the five elements.

Ātmāṅgula, A measure consisting of 108th part of the full height of a man.

Ādānanikṣepasamiti, Carefulness in taking up and laying down things.

Ādikara, A *Tīrthaṅkara*.

Āditīrthaṅkara, Ṛṣabha, the first *Tīrthaṅkara*.

Ādirāja, Ṛṣabha, the first king.

Ādhākarman, A sin incurred by an ascetic by accepting the food etc. specially prepared for him.

Ānaprāṇa, Respiration.

Ānayanaprayoga, Asking somebody to bring something from outside the limits.

Ānukampika, Compassionate.

Ānupūrvī, A variety of body-making *karma* by the rise of which a soul transmigrates from one state of existence to another.

Āntādin, An ascetic eating inferior kind of food.

Āpṛcchanā, Asking permission.

Āpṛcchā, Same as *Āpṛcchanā*.

Āpta, Free from passions, omniscient reliable.

Ābhinibodhika, Sensory and mental knowledge.

Ābhoga, Knowledge, consciousness.

Ābhogaṇatā, Reflection, thought.

Ābhogabakuśa, An ascetic consciously incurring sin.

Āma, Raw, unripe, uncooked.

Āmaka, A thing having life.

Āmagandha, A fault, a sin.

Āmarśauṣadhi, Power to cure diseases by mere touch of the hand.

Āmokṣa, Complete emancipation.

Āmoṣaka, A thief.

Āmnāya, Repetition, revision.

Āyatasaṁsthāna, Long configuration.

Āyatārtha, Emancipation.

Āyāmaviṣkambha, Length and breadth.

Āyuktatā, Carefulness, attentive-

Āyuṣkarman, Longevity-determining *karma*, and *karma* which confers on a living being a certain quantum of life.

Ārabhaṭā, Hasty inspection of clothes.

Ārambha, Sinful operation killing.

Ārā, A spoke of a wheel ; an area, a division of time.

Ārādhaka, One who devotes himself to asceticism.

Āropaṇā, Addition of another expiation to the former one.

Āroha, The height of a body.

Ārohapariṇāha, The length of the outstretched arms being equal of the height of the body.

Ārjava, Straight-forwardness, an essential virtue of the ascetic.

Ārtadhyāna, Mournful contemplation, sorrowful concentration.

Ārya, Noble, revered, cultured, maternal grand-father ; paternal grandfather.

Āryaka, Grand-father.

Āryā, A nun, a female ascetic.

Āryikā, A nun ; maternal grandmother ; paternal grand-mother.

Ālāpaka, A group of connected sentences.

Ālāpana, Binding of two things joined together.

Ālumpa, One engaged in evil deeds.

Ālocana, Confession; general awareness.

Ālocanā, Same as *Ālocana*.

Āvaraṇīya, Obscuring, veiling, obstructing.

Āvartanatā, Determination.

Āvali, Same as *Āvalikā*.

Āvalikā, A period consisting of innumerable *samayas* ; a line, a row, a series.

Āvaśyaka, An essential duty of the ascetic.

Āvaśyikā, Asking permission for some pressing work.

Āvīcimaraṇa, Diminution of life every instant.

Āśa, Food.

Āśaṁsā, Desire.

Āśaṁsāprayoga, Desiring.

Āśātanā, Irreverence, disrespect, immodesty.

Āśrama, A hermitage ; a stage of life.

Āsākti, Attachment.

Āsaṅga, Attachment.

Āsana, posture.

Āsādana, Denial.

Āstika, A believer, i.e., one who believes in the existence of soul, rebirth, emancipation etc.

Āsrava, Influx of *karma*, inflow of *karmic* particles.

Āhāraka, Projectable body etc.

Āhārakalabdhi, The power of making a projectable body.

Āhārakasamudghāta, Emanation of soul-particles from the gross body to make the projectacle body.

Āhāraparyāpti. Full development of the power of assimilating food.

Āhārasanjñā, Desire of taking food,

Āhiṇḍaka, A wanderer.

Iṅkhiṇī, Censure, blame,

Iṅginīmaraṇā, Voluntary death in a definite area without receiving any service from others.

Icchākārā, Willingly carrying out the orders of a preceptor.

Icchāparimāṇa, Limitation of desires.

Itvaraparigṛhītāgamana, To enjoy a woman accepted for a short time.

Itvarī, A woman temporarily kept.

Indra, A lord of gods.

Indriya, A sense-organ.

Indriyaja, Sensuous, sensory.

Indriyārtha, The object of a sense-organ.

Ihalokabhaya, Fear arising from the beings of this world.

Ihalokāśaṁsāprayoga, Desire of being a king etc. in this world.

Īryā, Walking.

Īryāpathakarman, A kind of *karma* incurred by walking.

Īryāpathikabandha, *Karmic* bondage caused by walking.

Īryāsamiti, Carefulness in walking.

Īśvarakāraṇika, One who holds that God is the creator of the universe.

Īhā, Speculation.

Uccagotra, A kind of *karma* by the rise of which a soul is born in a high family.

Uccavrata, One observing great vows, i.e., an ascetic.

Uccāraprasravaṇa, Excretion and urine.

Uccāvaca, High and low.

Uccholana, Careless washing of hands etc.

Ucchvāsa, Inhalation.

Uñcha, Begging of alms.

Utkarṣa, Pride.

Utkālika, A canonical text which can be studied at any proper time, that is, for the study of which there is no fixed time.

Utkṛṣṭa, Maximum.

Uttamapuruṣa, An excellent man like *Tīrthaṅkara*, *Cakravartin* etc.

Uttamasthāna, Salvation.

Uttamārtha, Salvation.

Uttaraguṇa, A secondary duty, a minor virtue.

Uttaracara, Successor.

Uttaraprakṛti, A sub-division of *karma*.

Uttānika, One who has taken a vow to lie flat.

Utthānapariyānika, A biography from birth to death.

Utpala, A measure of time consisting of eighty-four lakhs of *Utpalāṅgas*.

Utpalāṅga, A measure of time consisting of eighty-four lakhs of *Hunutas*.

Utpāda, Origination.

Utpādana, A fault incurred by an ascetic himself in connection with his food etc.

Utsarpiṇī, Ascending aeon in which happiness etc. gradually increase.

Utsedhāṅgula, A measure equal to eight barley grains.

Udaya, Rise, realisation.

Udāharaṇa, Illustration.

Udīraṇā, Premature realisation.

Udgama, A fault incurred by an ascetic owing to a householder in connection with his food etc.

Udghātika, Minor expiation.

Udghātima, Same as *Udghātika*.

Uddiṣṭabhakta, Food specially prepared for an ascetic.

Uddeśaka, A sub-division of a chapter.

Udyota, A kind of body making *karma* by the rise of which a soul gets bright body.

Uddhārapalyopama, The time required to empty a pit which is one *yojana* in length, breadth and width and is filled with the finest points of hair and from which one hair-point is taken out at every *samaya*.

Uddhārasamaya, The number of *samayas* contained in 2½ *Sāgaropamas*.

Uddhārasāgaropama, A measure of time consisting of ten *Koṭākoṭis* of *Polyopamas*.

Udbhinna, A fault incurred by an ascetic by accepting the food etc. given after opening a door etc.

Udvartanā, Increasing the duration and intensity of *karma*.

Unmāna, A measure of weight.

Unmiśra,, Food mixed with what possesses life.

Upakaraṇa, An implement.

Upakaraṇendriya, Protecting environment of a sense-organ.

Upakāra, Function, benefit, benevolence.

Upagraha, Help, favour, kindness, benevolence.

Upaghāta, False accusation.

Upaghātanāman, A variety of body-making *karma* which causes abnormal formation of the body.

Upacāra, Transference of epithet; figurativeness; formality.

Upadeśaruci, Right belief produced by a sermon.

Upadhāna, An austerity; a pillow.

Upadhāraṇatā, Holding.

Upadhi, Possessions, implements.

Upanaya, Application.

Upapatti, Concomitance.

Upapāta, Instantaneous birth, i.e. the birth of celestial and infernal beings.

Upapāda, Same as *upapāta*

Upabṛṁhaṇa, Encouraging, nourishing, praising, glorifying.

Upabhoga, Enjoyment of consumble things.

Upabhogaparibhogaparimāṇa, Limiting consumable and non-consumable things.

Upabhogāntarāya, A variety of power-obstructing *karma* by the rise of which one cannot enjoy consumable things.

Upamāna, Analogy.

Upayukta, Attentive, cautious,

Upayoga, Cognition, carefulness, attentiveness.

Uparata, One who has desisted from sin, free from sinful activity.

Upalambha, Observation.

Upavāsa, A fast.

Upaśama, Forgiveness, peace, subsidence.

Upaśamaka, An ascetic subsiding his passions.

Upaśamaśreṇī, The ladder of spiritual advancement by a gradual subsidence of deluding *karmas*.

Upaśāntakaṣāya, One whose passions have subsided.

Upaśāntamoha, One whose delusion has subsided.

Upasampadā, Placing oneself under another preceptor in order to acquire knowledge etc.

Upasarga, Trouble, affliction.

Upasthāpana, Readmission into the order of monks or nuns.

Upāṅga, A subsidiary canonical text.

Upādāna, Material cause.

Upādeya, Acceptable.

Upādhyāya, A teacher, a professor.

Upāśraya, A place where ascetics stay.

Upāsaka, A lay votary.

Upāsakapratimā, A special vow of a lay votary.

Upāsikā, A female lay votary.

Upekṣā, Indifference.

Upodghāta, An introduction.

Uraḥparisarpa, A reptile moving on the breast.

Ūnodarikā, Reduced diet.

Ūrdhvagati, Upward motion.

Ūrdhvaloka, Upper world, celestial world.

Ūha, Inductive reasoning.

Ṛjugati, Straight motion.

Ṛjumati, Straight telepathy.

Ṛjusūtra, Straight (present or momentary) viewpoint, analytic stand-point.

Ṛjusūtrābhāsa. Fallacy of the straight viewpoint, fallacy of the analytic standpoint.

Ṛtu, A measure of time consisting of two months.

Ṛddhi, An extraordinary power.

Ṛṣabhanārācasaṁhanana, A physical constitution in which the joining of bones is not very firm.

Ekajñānin, An omniscient person.

Ekatva, Oneness, identity, solitariness, loneliness.

Ekabhakta, Taking only one meal in a day.

Ekavādin One who holds that there is only one soul in the universe and that alone is real.

Ekānta Absolute.

Ekāntara, Fasting etc. on alternate days.
Ekāntavāda, Absolutism.
Ekārthasamavāyin, Co-inherent in the substratum.
Ekāvalī An austerity consisting of a number of fasts in ascending and descending order.
Ekāśana, Taking only one meal in a day.
Ekāśanika, One who takes his food only once a day.
Ekendriya, A one-sensed being; a being with one sense, viz. touch.
Evambhūta, Such-like viewpoint which accepts the meaning of a word when the object is engaged in the action indicated by it.
Evambhūtābhāsa, Fallacy of the such-like viewpoint.
Eṣaṇā, Search of food etc.
Eṣaṇāsamiti, Carefulness in begging food etc.
Eṣaṇīya, Acceptable, worthy of being received.
Ogha, General, ordinary, worldly stream.
Oghadṛṣṭi, Commonplace attitude.
Oghasaṃjñā, Instinct.
Aughika, General, common.
Autpattikī, Instantaneous.
Audayika, Emerging due to the rise of *karmas*.
Audārika, Gross body etc.
Auddeśika, A sin incurred by an ascetic by accepting the food etc. specially prepared for them.
Aupapātika, A celestial or infernal being.
Aupapādika, Same as *Aupapātika*.
Aupaśamika, Emerging due to the subsidence of *karma*.

(Contd. from Page 11)

(b) Jain L.C., *Jaina Mathematical Contribution of Toḍaramala of Jaipur, The Jaina Antiquary*, Vol. 30, No. 1, 1977 pp 10-22.

(c) Jain, L.C., *Perspectives of System-Theoretic Technique in Jaina School of Mathematics, between 1400-1800 A.D.*, Jain Journal, Calcutta, Vol. 13, no 2, oct. 1978, pp. 49-66.

9. (a) Jain, L.C., *Mathematical Foundations of Karma : Quantum System Theory*, I, *Anusandhān Patrikā*, Jaina Viśva Bharati, Ladnun, 1073, pp 1-19.

(b) Jain, L.C., *System Theory in Jaina School of Mathematics*, I.J.H.S., Vol. 14, no. 1, 1979, pp 31-65.

10. Cf. ibid.
11. Cf. 8 (c) and 9, op. cit.
12. Cf. ibid.
13. Cf. 9 (a), op.cit., and Cf. also 7, op. cit.
14. Cf. 9 (a).
15. Cf. 7, op. cit.
16. Cf. 9 (a)
17. Cf. 1 (d), *Gommaṭasāra*, *Karma Kāṇḍa* VV. 218-242.
18. Cf. ibid, VV. 22 3-231.
19. (a) Cf. 1 (d), *Gommaṭasāra*, *Jīvakāṇḍa*, VV. 48-57,
(b) Cf. 1 (d), *Gommaṭasāra*, *Karmakāṇḍa*, VV. 896-912
(c) Cf. 1 (d), *Labdhisāra*, VV. 33-165, & C.
20. Cf. 190 (a) op. cit.
21. Cf. ibid.

(कवर पृष्ठ २ का शेष)

नया जन्म

यज्ञोपवीत के संस्कार से ब्राह्मण द्विज कहलाता है। जैन मुनियों के लिए भी शास्त्रों में द्विज शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका आधार है प्रव्रज्या-ग्रहण, गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर संयम यात्रा की ओर प्रयाण।

आचार्य भिक्षु भी अंधेरी ओरी में सं० १८१७ की आषाढी पूर्णिमा के दिन सच्चे द्विज बनें।

आचार्य भिक्षु को विकृत उद्देश्य से वह स्थान बताया गया, किन्तु मृत्यु का वह स्थान भी उनके लिए अमरत्व का सोपान बन गया।

बालक मुनिश्री भारीमालजी के सम्मुख सर्प का परीषह भी प्रस्तुत हुआ, किन्तु उन्होंने समभाव से महन किया और उनका मार्ग प्रशस्त हो गया।

अंधेरी ओरी का वह आलोक क्रमशः फैलता गया। लाखों व्यक्तियों के लिए बन गया वह अन्तर्जागृति का साधन; वह हो गया चेतना के ऊर्ध्वारोहण का महान् आलम्बन।

आलोक की पूजा ही है इस तेरापन्थ स्थापना-दिवस का महान् सन्देश। हम स्वयं जागें और दूसरों को जगाएं, यही है आचार्यश्री भिक्षु एवं उनकी गौरवशाली आचार्य-परम्परा का पावन उपदेश।

—०—

Registration No. [Postal Department : RJ 4508
Registrar of Newspapers for India : 28340/75
Vol. VII, Nos. 5-6 TULASĪ PRAJÑĀ August-September, 1981

जैन विश्व भारती, लाडनूं

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : **आचार्यश्री तुलसी**, विवेचक तथा सम्पादक : **युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ**

आगम ग्रंथ :

१. अंगसुत्ताणि १ (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	८५.००
२. अंगसुत्ताणि २ (भगवई : विआहपण्णत्ती)	९०.००
३. अंगसुत्ताणि ३ (णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसूयं)	८०.००
[उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ संशोधित मूलपाठ, पाठान्तर, पाठान्तर-विमर्श, "जाव" पूर्ति और उसके आधारस्थल, विषयसूची, सम्पादकीय तथा भूमिका से युक्त, प्रत्येक भाग ११००-१२०० पृष्ठ]	
४. दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६१२ साइज डिमाई १/४	८५.००
५. ठाणं पृष्ठ १२०० ,, ,,	१२५.००
६. आयारो—मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	३०.००
७. दशवैकालिक (गुटका) मूलपाठ	१.००
८. उत्तराध्ययन (गुटका) मूलपाठ	३.५०
९. दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन— मात्र हिन्दी अनुवाद अनु० युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ	१५.००
१०. दशवैकालिक-उत्तराध्ययन (हिन्दी पद्यानुवाद) अनु० मुनि श्री माँगीलाल "मुकुल"	१०.००
११. आगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि शब्दसूची) खण्ड १, भाग १	—

आगमेतर ग्रंथ

१२. श्रमण महावीर—युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ	१६.००
१३. भगवान् महावीर—आचार्यश्री तुलसी	५.००
१४. भरतबाहुबलि महाकाव्यम्—अनु० मुनिश्री दुलहराज	३०.००
१५ सत्य की खोज : अनेकांत के आलोक में—युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ	५.००
१६. थ्योरी आँफ एटम इन जैन फिलोसफी—जे० एस० जवेरी	८.००
१७. श्रेणिक बिम्बिसार एण्ड कूणिक अजातशत्रु	७.००
१८. प्रतिदिन का एक विचार (गुटका)—श्रीचन्द रामपुरिया	४.००
१९. जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य—साध्वी संघमित्रा	२५.००

—: प्राप्ति-स्थान :—

जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati, Ladnun (Raj.) 341306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग, कार्यालय-सचिव, जैन विश्व भारती, लाडनूं
किशोर प्रिंटर्स, रामपुरिया कटला, सुजानगढ़ के लिए एस. नारायण एण्ड संस,
7117/18, पहाड़ी धीरज, दिल्ली में मुद्रित ।